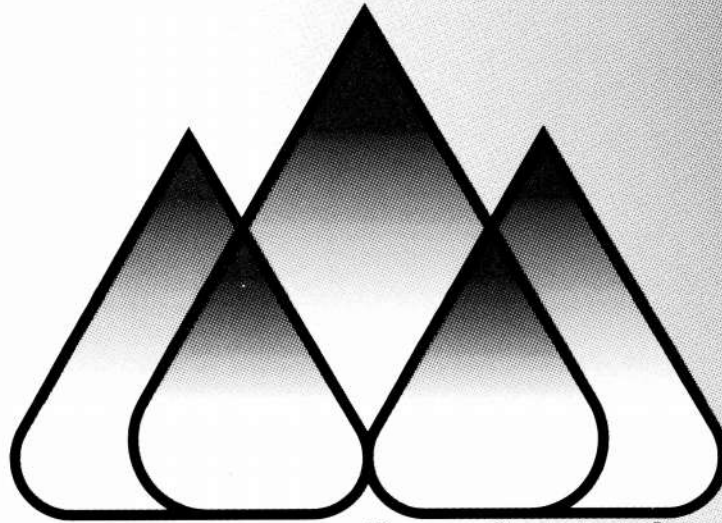


वर्ष 6, अंक 11  
जनवरी-जून 2011

ISSN 0976-3694

# मूल्यविमर्श MŪLYAVIMARŚA



सत्य सदाचरण शांति अहिंसा प्रेम

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र

नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर केन्द्रित अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका

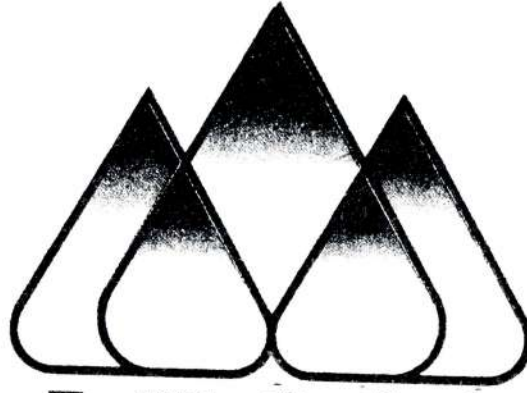
A Bi-Annual Research Journal on Ethics & Human Values

वर्ष-6, अंक-11, जनवरी-जून, 2011

ISSN 0976-3694

# मूल्यविमर्श

नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर केन्द्रित  
अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका



सत्य सदाचरण शांति अहिंसा प्रेम  
मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र

प्रधान सम्पादक  
कमलशील

कार्यकारी सम्पादक  
उषा त्रिपाठी

सम्पादक  
धर्मजंग  
राजीव कुमार वर्मा

# मूल्यविमर्श

वर्ष-6, अंक-11, जनवरी-जून, 2011

ISSN 0976-3694

## सम्पादन परामर्श समिति

रामहर्ष सिंह (प्रोफेसर एमेरिटस, का०हि०वि०वि० व पूर्व कुलपति, राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर)

रमेश चन्द्र पण्डा (प्रोफेसर व डीन, संस्कृत धर्म विज्ञान संकाय, का०हि०वि०वि०)

धीरेन्द्र प्रसाद वर्मा (प्रोफेसर व डीन, विधि संकाय, का०हि०वि०वि०)

अनिल कुमार अग्रवाल (प्रोफेसर, प्रबंध संकाय, का०हि०वि०वि०)

सुशांत कुमार श्रीवास्तव (प्रोफेसर, प्रौद्योगिकी संस्थान, का०हि०वि०वि०)

संजय कुमार (एसोसिएट प्रोफेसर, कला संकाय, का०हि०वि०वि०)

## प्रकाशक

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र

**Malaviya Centre for Ethics & Human Values**

श्यामाचरण डे निवास, मालवीय भवन संकुल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

## मुद्रक

काबरा आफसेट

बी.-6, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

## अक्षर संयोजन

ऋतुराज जायसवाल

## आर्थिक सहयोग

श्री विश्वनाथ मंदिर, का०हि०वि०वि०

सहयोग राशि	:	₹ 50 / -
वार्षिक सदस्यता	:	₹ 100 / -
द्विवार्षिक सदस्यता	:	₹ 150 / -
पंचवार्षिक सदस्यता	:	₹ 400 / -
आजीवन सदस्यता	:	₹ 5000 / -

# MŪLYAVIMARŚA

Vol. : 6, No. : 11, Jan-June, 2011

ISSN 0976-3694

## Editorial Advisory Board

**Ramharsh Singh** (Professor Emeritus, BHU & Ex. Vice Chancellor, Rajasthan Ayurved University)

**Ramesh Chand Panda** (Professor & Dean, SVDV, BHU )

**Dhirendra Prasad Verma** (Professor & Dean, Faculty of Law, BHU)

**Anil Kumar Agrawal** (Professor, Faculty of Management, BHU)

**Sushant Kumar Srivastava** (Professor, Institute of Technology, BHU)

**Sanjay Kumar** (Associate Professor, Faculty of Art, BHU)

## Publisher

**Mālaviya Mūlya Anuśilan Kendra**

**(Malaviya Centre for Ethics & Human Values)**

Shyamacharan De Niwas, Malaviya Bhawan Complex

Banaras Hindu University, Varanasi-221005

## Printed By

**Kabra offset**

**B6, Ravindrapuri, Varanasi**

## Type Setting

**Rituraj Jaiswal**

## Financial Support

**Shri Viswanath Mandir, BHU**

<b>Contribution Price</b>	:	<b>₹ 50/-</b>
Annual Membership	:	₹ 100/-
Two Years Membership	:	₹ 150/-
Five Years Membership	:	₹ 400/-
Life Membership	:	₹ 5000/-



## अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	महामना का जीवन दर्शन सुमन जैन	1-4
2.	मूल्यपरक राष्ट्रीय शिक्षा : एनी बेसेन्ट के विचारों की प्रासंगिकता आशिता	5-9
3.	मानवीय मूल्यों की शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिन्तन की उपादेयता दिनेश कुमार सिंह	10-15
4.	भारत की समस्याएँ : स्वामी विवेकानन्द का विश्लेषण संध्या त्रिपाठी	16-21
5.	मूल्य : एक अवधारणात्मक अनुशीलन शशिशेखर	22-27
6.	अनुप्रयोगात्मक मूल्य प्रताप निर्भय सिंह	28-31
7.	शैक्षिक जागरूकता : समाजशास्त्रीय परिदृश्य विजय आनन्द	32-34
8.	नैतिकता : विविध आयाम प्रीति सिंह	35-37
9.	मानवीय मूल्यों में प्रकृति की अर्थवत्ता कुमार वरुण, नित्यानन्द सिंह	38-42
10.	धर्म, धर्मनिरपेक्षता और संविधान नवलकिशोर मिश्रा	43-5
11.	धर्म, जीवन सम्पूर्णता की एक विधि विनय कुमार सिंह यादव	51-53
12.	'सत्याग्रह' : एक जीवन मूल्य प्रभात कुमार मिश्र	54-60
13.	माध्यम, मूल्य, मीडिया और मानव का मूल्यांकन श्यामलेन्दु रंजन	61-64
14.	जीवन मूल्य और हमारा दायित्व धर्मजंग एवं राजीव कुमार वर्मा	65-68
15.	प्राथमिक विद्यालयों में मूल्यपरक शिक्षा की प्रासंगिकता राजेश कुमार	69-72

16.	आधुनिक प्रौद्योगिकी शिक्षा और मानवीय मूल्य अमित कुमार वर्मा	73-76
17.	भारतीय चिकित्सा पद्धति में वर्णित सामाजिक मूल्य एवं उनका महत्व रश्मि वार्ष्णेय	77-79
18.	अपभ्रंश साहित्य में जीवन मूल्य बृजराज सिंह	80-84
19.	मानवीय मूल्य और सन्त साहित्य राजेश कुमार चौधरी	85-90
20.	भक्ति की अवधारणा : वल्लभाचार्य के विशेष सन्दर्भ में नवीन कुमार श्रीवास्तव	91-98
21.	साम्प्रदायिक सद्भाव के क्रान्तिदूत 'सन्तकबीर' भागीरथी	99-101
22.	प्रसाद का आनंद संदेश एवं मूल्यदृष्टि अनूपा कुमारी	102-105
23.	मूल्य संकट का समकालीन परिदृश्य और हिन्दी नाटक वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी	106-110
24.	मूल्य संक्रमण के दौर में शरद जोशी का व्यंग्य अमित कुमार सिंह	111-115
25.	वैदिक जीवन दर्शन में प्रतिबिम्बित मानवीय मूल्य विजय श्रीवास्तव	116-121
26.	भारतीय संस्कृति एवं साहित्य ऋतु वार्ष्णेय	122-124
27.	मूल्य-सापेक्ष प्रशासन एवं कौटिल्य का अर्थशास्त्र की उपादेयता ज्योति मिश्रा	125-130
28.	मानवमूल्य विमर्श एवं समकालीन भारतीय आध्यात्मिक मानववाद मलय कुमार झा	131-136
29.	भारतीय मूल्य परम्परा : एक दर्शनपरक अध्ययन नमिता कपूर	137-140
30.	सात्विक, राजसिक और तामसिक ज्ञान स्वामी रंगनाथानंद	141-145

## सम्पादकीय

षट्मासिक पत्रिका 'मूल्यविमर्श' का वर्ष 2010-11 का यह शीतकालीन अंक पाठकों के सामने है। इस पत्रिका के माध्यम से 'मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र' अपने आदर्शों एवं उद्देश्यों का प्रचार-प्रसार करने का प्रयास करता आ रहा है। यह वर्ष भारत की महान विभूति महामना पं० मदन मोहन मालवीय की 150वीं जन्म जयन्ती का वर्ष है। कृतज्ञ राष्ट्र इस जयन्ती को पुनीत श्रद्धा के साथ मनाने जा रहा है। महामना की महान कृति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से जुड़े रहकर हम एक विशेष प्रकार के गर्व का अनुभव करते हैं एवं असंख्य देशवासियों एवं प्रशंसकों के साथ इस असाधारण विभूति को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

महामना एक बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। पिछली दो सदियों में भारत वर्ष में जिन असाधारण व्यक्तियों को जन्म दिया उनमें पं० मदन मोहन मालवीय का स्थान अग्रणी श्रेणी में आता है। अपने मानवीय गुणों एवं सार्थक सेवाओं के कारण ही वे 'महामना' कहलायें। सामाजिक जीवन का कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता नहीं रहा। जिन-जिन क्षेत्रों में उन्होंने कार्य किया, चाहे वह वकालत हो, या धर्म विषयक सेवा हो, या फिर विस्तृत राजनीति, सभी क्षेत्रों को अपनी उपस्थिति से उन्होंने आदरणीय बनाया। यही कारण है कि महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष ने भी स्वीकारा कि "मैं तो मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ।" यह जानकर आश्चर्य भले ही लगे, पर पढ़े-लिखे चिन्तावान लोगों में भी महामना के प्रशंसकों की कमी नहीं थी।

उनके व्यक्तित्व के दो पहलू विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं – एक व्यक्ति के रूप में उनकी महानता एवं दूसरा सार्वजनिक कार्यों में उनकी श्रेष्ठता। ऐसे अनेक व्यक्ति देखने को मिलेंगे, जिन्होंने अपने भीतर के मानवोचित गुणों को विकसित करने का भरसक प्रयास किया हो, पर जिस प्रकार के उदात्त चारित्रिक गुणों का विकास मालवीय जी के जीवन में देखने को मिलता है। वह लोगों के लिए उदाहरण बन जाता है एवं लोग जीवन भर उनसे प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं। उनका सुसंस्कृत संकल्प एवं उससे पूर्णता तक लाने की दृढ़ इच्छाशक्ति अवश्य ही विरल व्यक्तित्व में ही देखी जा सकती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का उनका संकल्प समकालीन प्रबुद्धजनों को भी प्रारम्भ में केवल काल्पनिक ही लगता था। पर महामना ने न केवल इसे वास्तविक रूप दिया, इसे ऊँचाइयों तक पहुँचाने की एक समुचित नींव भी उन्होंने प्रदान की। अपने किसी स्वप्न को साकार होते देखना साथियों-सहयोगियों के साथ मिलकर उसे गढ़कर संवर्धित करना विरले लोगों का भाग्य बनता है। जन-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हुए शिक्षा क्षेत्र को अपनी सेवाओं का विषय बनाना शायद महामना की सर्वोच्च देन हैं। उनकी इस अनूठी देन को 'मूल्यविमर्श' का यह अंक सादर समर्पित है।

—उषा त्रिपाठी

## महामना का जीवन दर्शन

सुमन जैन\*

भारतीय संस्कृति उदारता की पोषक है। 'उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्ति हर भारतीय को विश्व परिवार का अंग बने रहने के लिए उदार होने की प्रेरणा देती है। उदारता ही परायणों को अपना और अपनों को आत्मीय बनाती है। पं० मदन मोहन मालवीय ने वही किया, जिसका उल्लेख आचार्य विनोबा के संस्मरणों में मिलता है उन्होंने लिखा है कि—“महामना मालवीयजी से मैं एक ही दफा मिला। पर उतने में ही उनके वात्सल्य की अनुभूति मुझे हुई। उस वात्सल्य में राजा-रंक सभी का समावेश था। इसीलिए वे महामना कहलाए।” महामना का ही क्यों, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गांधी आदि सभी महापुरुषों का जीवन साधारण मनुष्यों जैसा ही था, पर उनका चरित्र असाधारण था। साधारण जन जहां क्रोध करते हैं, वहां वे शान्ति, दया, परोपकार और क्षमा करते हैं। रामायण महाभारत जैसे ग्रन्थों में तिथियां महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, महत्त्वपूर्ण है चरित्र और चरित्र। इसी से कहा जाता है कि शिबि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, दिलीप, रघु, सीता, सावित्री इत्यादि की प्रेरणाप्रद कहानियां जब तक सुनी जाती रहेगी, तब तक संस्कृति और सभ्यता को आंच नहीं आयेगी।

जीवन का अन्तर संस्कृति और बाह्य सभ्यता से अनुप्राणित रहता है। उदारता, त्याग, सेवा और पारस्परिकता को परिपुष्ट करने वाला आचार-विचार जीवन को पवित्र बनाता है। ऐसी पवित्रता को आत्मसात करने वाले मालवीय जी संस्कृति की रत्नमाला की एक अनमोल कड़ी थे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने उनका पवित्र चरित्र देखकर ही कहा था—“मैं मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ। वे आचार में सर्वथा नियमित और विचार में अत्यन्त उदार हैं। द्वेष तो वे किसी से कर ही नहीं सकते थे। उनके उदार हृदय में शत्रु भी समा सकते हैं।”

मालवीय जी की कल्पना शक्ति असीम थी, उस युग में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बनाने की कल्पना अनूठी थी। आरम्भ में तो उसे अधिक पढ़े-लिखे लोग अव्यवहारिक समझते थे, परन्तु धीरे-धीरे उनके पुरुषार्थ से उनका व्यक्तित्व निखरता गया। उन्हें इस बात का आभास था कि भविष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता इंजीनियरिंग है उस समय जिसका देश भर में कहीं भी ठिकाना न था। उस समय उन्होंने बहुत अच्छे अंग्रेज प्रिंसिपल किंग को चुना जो ऋषि तुल्य थे, उन्हें सुपुर्द किया।

मालवीय जी धर्म के प्रति कोरे भावुक न थे, वास्तव में धर्म उनके हृदय में था, वे सच्चे वैष्णव थे। भागवत उनकी प्यारी पोथी थी। उन्हें राष्ट्र की चिन्ता थी। भारत के नवयुवक क्या बनेंगे, भविष्य में क्या कार्य करेंगे, इसे केन्द्र में रखकर हिन्दी आलोचना के स्तम्भ राजर्षि टण्डन ने लिखा है—“हिन्दू शब्द तो उनके मुँह से आदर से निकलता था, किन्तु कभी-कभी आपस में कड़वेपन से कह देते थे—अच्छा, यह नहीं करोगे? जाओ, दरिद्र हिन्दु की तरह से तुम काम करो। यह उनके लिए गाली हो जाती



थी। हिन्दुओं की जो मानसिक प्रवृत्ति आज है उससे वे चिढ़ते थे।" 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' श्रद्धामय रहते हुए भी जिसका आचरण धर्म संगत नहीं होता, उससे मालवीयजी धर्माचरण की अपेक्षा रखते थे। इसलिए उनकी दृष्टि में श्रद्धामय हिन्दू धर्म मानवधर्म है, जो विश्वशान्ति का राजमार्ग है।

मालवीय जी की वक्तृत्वशक्ति अद्वितीय थी, हजारों की भीड़ में वे चार-चार, पांच-पांच घण्टे बोलते रहते थे। उनकी सभा में अपार शान्ति रहती थी, पिन ड्राप साइलेंस। मालवीय जी महाराज जब द्रौपदी की कथा सुनाते तो उस कथा को सुन श्रोताओं का हृदय द्रवित हो उठता। एक बार वे महाभारत से द्रौपदी की कथा सुना रहे थे। एक वस्त्रा द्रौपदी अपने पतियों की ओर देखती है, दादा भीष्म की ओर देखती है परन्तु किसी से कोई सहारा न पाकर श्रीकृष्ण को पुकारती है। उस समय पूज्य मालवीय जी महाराज अश्रूपूरित गद्गद कण्ठ से ठीक अपने को द्रौपदी की स्थिति में रखकर पुकारते हैं—

गोविन्द! द्वारिका वासिन्! कृष्ण! गोपिजनप्रिय !  
 कोरवै: परिभूतां मां किं न जानासि केशव !!  
 हे नाथ! हे रमानाथ! ब्रजनाथार्तिनाशन!  
 कौरवार्णव मग्नां मां उद्धरस्व जनार्दन !!  
 कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन विश्वात्मन विश्वभावन!  
 प्रपन्नां पाहि गोविन्द! कुरुमध्येऽवसीदतीम्!!

मालवीय जी महाराज जब इन श्लोकों का साश्रु उच्चारण करते तो कथा में उपस्थित सहस्त्र-सहस्त्र छात्र-छात्रायें, अध्यापक-अध्यापिकाये फूट-फूट कर रोने लगते और एक पवित्र करुण दृश्य उपस्थित हो जाता, सभी भक्ति गंगा में नहाने लगते। यह सब उनके दिव्य, पुनीत चरित्र का प्रताप था। वे अपने भाषणों का विशेषकर धर्म सम्बन्धी प्रवचनों का, आरम्भ सदा ही मंगलाचरण के इन श्लोकों से करते थे—

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।  
 नन्दगोप कुमाराय गोविन्दराय नमो नमः ॥  
 कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।  
 प्रणतः क्लेशनाशाय गोविन्दराय नमो नमः ॥

मालवीयजी सच्चे अर्थ में आर्य थे। उन्हें आर्य शब्द प्रिय था। छात्रों और प्राध्यापकों के बीच समरस रहते थे। संध्या के समय टहलने निकलते, यदि कोई छात्रावास में पढ़ता नजर आता तो उसे पकड़कर बाहर खेलने-कूदने के लिए ले आते। व्यायाम के लिए उन्होंने प्रो० राममूर्ति को नियुक्त कर रखा था परन्तु संध्या समय वे स्वयं भी 'जिम्नैजियम' पहुँच जाते और विद्यार्थियों को नियमित रूप से व्यायाम करने के लिए प्रोत्साहित करते। हर बात में आर्य जीवन को आदर्श मानते। शरीर से तगड़ा, मन से संयमी, बुद्धि में तीक्ष्णता, हृदय में प्रेम तथा अन्तःकरण परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित, ऐसे व्यक्तियों के निर्माण के लिए उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की

स्थापना की थी।

अंग्रेजी शासन के साथ-साथ बौद्धिक दासता से भी देश को मुक्त कराने के लिए मालवीयजी ने शिक्षा के क्षेत्र में कई नये प्रयोग किये। उनका विचार था कि भारतीय नवयुवकों को जीविका लाभ और नैतिक पतन से बचाने के लिए स्वतंत्र रूप से संचालित राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता है। वे गुरुकुलों, ऋषिकुलों, शान्ति निकेतन का आदर करते थे परन्तु साथ ही उनका यह भी मत था कि अतीत के जीवन मूल्यों और जीवन पद्धति के मौलिक सिद्धान्तों को वर्तमान में आत्मसात करने की आवश्यकता है। वर्तमान को ऐतिहासिक सन्दर्भ से हटाकर अतीत में स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। जीवन में परम्परा, मूल्यगत आधुनिकता, प्राच्य और पाश्चात्य उसके साथ अध्यात्म का समन्वय वांछनीय है।

मालवीयजी के मन में समग्र शिक्षा की कल्पना गांधीजी की बुनियादी शिक्षा से थोड़ी अलग थी। गांधीजी की शिक्षा में मनुष्य की मूल आवश्यकता क्या है, और आस-पास के साथ उसका कैसा सम्बन्ध है इस बात पर बल दिया गया। उनका कहना था कि आंख, हाथ और दिमाग बराबर साथ-साथ काम करना चाहिए। मैकाले की शिक्षा पद्धति के पीछे एक साजिश थी। उसका सिद्धान्त था कि भारत में ऐसे लोग पैदा हो, जिनमें सृजनात्मक गुण न हो, वे नकलची हो। वह प्रतिलिपि तैयार करने वाली शिक्षा पद्धति थी। उसमें उसे सफलता भी मिली। पढ़े-लिखे लोगों का दिमाग आज भी विभक्त है। उसका असर आज भी कला, संस्कृति, इतिहास परम्परा में दिखायी देता है। मैकाले ने हमारी देशी-शिक्षा प्रणाली-जो समग्रक विकास पर आधारित थी-नष्ट की और यह प्रचार-प्रसार किया कि अंग्रेजी शिक्षा निरक्षरता के साम्राज्य को मिटाकर लोगों को ज्ञान की ओर ले जा रही है। मालवीय जी ने इस बात को समझा। वे शास्त्रज्ञ थे। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा में निहित अच्छे पक्ष को लिया। इसीलिए उन्होंने हिन्दी, संस्कृत के साथ अंग्रेजी की उच्च शिक्षा का भी प्रावधान किया। मालवीयजी ने कहा था कि ज्ञान जहां से भी मिले ले लो, क्योंकि ज्ञान पवित्र है। ऐसी अनूठी सोच हिन्दुस्तान में ही सम्भव है। यहां दर्शन पढ़ाया जाता है, भारतीय दर्शन का भी एक प्रश्नपत्र बनाया जाय। इतिहास पढ़ाया जाय तो भारतीय इतिहास के एक घटक बनाया जाय। इस तरह के भाव और चिन्तन सभी विषयों में होने चाहिए। एम0बी0बी0एस0 के पाठ्यक्रम में चरक, सुश्रुत क्यों नहीं हो? सिविल इंजीनियरिंग के पाठ्यक्रम में वास्तुशास्त्र होना चाहिए। खण्डित करके जो ज्ञान दिया गया उससे एक दरिद्र अभिमान का जन्म हुआ। इसे तोड़ने का काम मालवीय जी ने किया उनकी कल्पना थी कि ज्ञान-विज्ञान तकनीक का क्षेत्र विकसित हो। मालवीयजी ने जितना सोचा-विचारा उतना हुआ नहीं, कारण था भाषा तत्त्व की उपेक्षा। हमने यह सोचा कि जिस भाषा में ज्ञान उपलब्ध है उसी भाषा में दे। यह नहीं समझा कि विज्ञान और तकनीक का भाषा से कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। जिसे हम आसानी से समझे, जिस भाषा से हम उस विषय के निकट पहुंच सकें। रह-रहकर उस विषय के नजदीक

पहुँचने से उत्पादकता और सृजनात्मकता कम हो जाती है। जो भाषा हम बोलते हैं उसी भाषा में हम सोच सकते हैं। मनुष्य कई भाषाएं सीख सकता है; परन्तु सोचने का काम वह सिर्फ एक ही भाषा में करेगा। परन्तु हम भूलकर बैठे; पारिभाषिक शब्दावली का गठन करने लगे, अनुवाद के जाल बुनने लगे, अंग्रेजी में लिखा हुआ ही पढ़ने लगे, क्यों पढ़े हिन्दी। यदि विज्ञान के अध्यापक हिन्दी में पढ़ाते हैं तो लड़कों को कुछ बात समझ में आती है; लड़के पढ़ाई भी करते हैं, कुछ नयी सृजनात्मकता भी आती है। शून्यता तोड़ने के लिए आवश्यक है कि हम अपनी भाषा में विचारों को अभिव्यक्त करें। यह सृजन-पक्ष महामना के मन में था। वे स्रोत भाषा के रूप में संस्कृत और चिन्तन भाषा के रूप में हिन्दी की बात करते थे। उन्होंने हिन्दी विभाग खोला तो ऐसे लोगों को लाने की कोशिश की, जो हिन्दी के प्रति समर्पित हो, यथा-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'। मालवीयजी का यही प्रयास शिक्षा के अन्य क्षेत्रों में भी था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का निर्माण मात्र ईट-पत्थर का निर्माण नहीं, बल्कि स्वदेशी भावना का निर्माण है। मालवीय जी महाराज ने राष्ट्रीय शिक्षा के पांच माध्यम बताये हैं—(1) लोक शिक्षण (2) संस्कार शिक्षण (3) बाल शिक्षण (4) शक्ति संवर्धन शिक्षण और (5) सुपोषण शिक्षण इस विषय में उनका एक श्लोक बहुचर्चित है—

**ग्रामे ग्रामे सभा कार्या ग्रामे ग्रामे शुभा कथा ।**

**पाठशाला मल्लशाला गवां सदन मेव च॥**

भूदान पदयात्रा करते हुए बिनोबाजी ने आचार्य कुल की स्थापना की और आचार्यों ने पूछा कि क्या कार्यक्रम बनाये। उन्होंने मालवीयजी के ही उपरोक्त श्लोक को उद्धृत कर आचार्यों से गांवों में जनसभा का लोकशिक्षण, सद्कथा कर संस्कार शिक्षण, पाठशालाओं में बालशिक्षण, व्यायामशाला में शक्ति संवर्धन शिक्षण और गोशालाओं में सुपोषण शिक्षण देने पर बल दिया। आचार्य कुल आज भी वही कर रहा है।

मालवीयजी महामानव थे। उनका दर्शन, इतिहास, भाषा, संस्कृति, अध्यात्म, विज्ञान, तकनीक सब कुछ पगा हुआ था। उन्हें जन-मन की चिन्ता थी। वे निरन्तर स्वाध्याय और चिन्तन में निमग्न रहते थे—

**कोऽनुस्यादुपायोऽन्न येनाहं दुःखितामनाम् ।**

**अन्तः प्रविश्यभूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा॥**

हजारों वर्ष पूर्व एक ऋषि ने यह प्रार्थना की; यही प्रार्थना मालवीयजी ने भी की— “वह कौन सा उपाय है, जिसके द्वारा मैं दुःखी जीवों के अन्तःकरण में प्रवेश कर उनके दुःखों से दुःखी होऊँ और उसके दुःख को दूर करने में प्रवृत्त हो जाऊँ।” मालवीयजी के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है—“सो सुख जाने मन अरु काना। नहि रसना पै जाइ बखाना।”

\*\*\*\*\*

## मूल्यपरक राष्ट्रीय शिक्षा : एनी बेसेन्ट के विचारों की प्रासंगिकता

आशिता\*

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में शिक्षा को अज्ञान के तंतुओं से मुक्त कराने का प्रमुख साधन माना जाता रहा है। यहाँ की संस्कृति ने कभी भी शिक्षा को केवल बाह्य जीवन को सँवारने का साधन ही नहीं माना है अपितु भारतीय शिक्षा परंपरा हमेशा से मूल्यपरक रही है। सामान्य भाषा में कहें तो मूल्य वह सबकुछ है जो हमें एक सुखी जीवन जीने में सहायता प्रदान करता है। सामान्यतः प्रेम, सहिष्णुता, शांति, सत्य, अहिंसा, उचित व्यवहार इत्यादि मानवीय मूल्यों के अंतर्गत आते हैं।

विश्व के समस्त प्रमुख धर्मों एवम् संस्कृतियों ने मूल्य शिक्षा की बात को स्वीकारा है। भारत में शिक्षा का स्वरूप वैदिक युग से ही अत्यंत वृहत् रहा है। मूल्य शिक्षा का प्रारंभ इसी युग से होता है। यहाँ शिक्षा को मुख्यतः मानव जीवन के आध्यात्मिक एवम् नैतिक पक्षों को समझने का माध्यम माना जाता रहा है। चरित्र निर्माण एवम् व्यक्तित्व विकास शिक्षा के दो प्रमुख लक्ष्य रहे हैं।

मूल्य शिक्षा पर विभिन्न विचारकों एवम् दार्शनिकों ने विभिन्न मत दिए हैं परंतु डा० एनी बेसेन्ट के विचार सर्वथा मौलिक हैं। विदेशी धरती पर जन्म लेने के बावजूद डा० बेसेन्ट की आत्मा में भारत ही समाया था। भारत को उन्होंने अपनी मातृभूमि के रूप में स्वीकारा एवम् हिन्दूत्व के पुनरुत्थान के लिए अथक प्रयास किए। उन्होंने एक ऐसे समय में भारत में रहकर कार्य किया जब महात्मा गाँधी, नेहरू, टैगोर एवम् अरविंद घोष जैसे महानायक सामाजिक, राजनैतिक एवम् धार्मिक क्षेत्रों में अपने क्रांतिकारी विचारों द्वारा भारत की दशा और दिशा बदलने का प्रयास कर रहे थे। डा० बेसेन्ट ने इन महापुरुषों के लक्ष्यों को पूर्ण करने में अपूर्व योगदान दिया।

डा० बेसेन्ट का शिक्षा संबंधी दर्शन 'शिक्षा के थियोसोफिकल आदर्श' पर आधारित है जिसके अनुसार प्रत्येक बच्चे को एक ऐसी शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए जो उसके व्यक्तिगत एवम् विशिष्ट गुणों को उजागर करने में समर्थ हो। ऐसी शिक्षा उसे समाज एवम् राष्ट्र में एक उपयोगी नागरिक बनाने में सहायक सिद्ध होगी। डा० बेसेन्ट के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बच्चों की क्षमता को बढ़ाना एवम् उन्हें प्रशिक्षित करना होना चाहिए।

मूल्यपरक राष्ट्रीय शिक्षा की बात करते हुए डा० बेसेन्ट ने अकादमिक मतों द्वारा यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि किसी भी राष्ट्र का भविष्य शिक्षा द्वारा निर्धारित होता है। अगर किसी नागरिक को अपने राष्ट्र से प्रेम है तो वह राष्ट्रीय शिक्षा की बात को दरकिनार नहीं कर सकता। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली से उनका तात्पर्य उस

प्रणाली से था जो भारत की अपनी धर्म एवम् संस्कृति पर आधारित प्रणाली है। उन्होंने कहा था कि – “To make Indian ideals the basis of Indian civilization, renouncing the hybrid & sterile ideals of anglicized Indianism.....”

*-(The Besant Spirit, Vol-2, p.59)*

मूल्य आधारित राष्ट्रीय शिक्षा का समर्थन करते हुए डा० बेसेन्ट ने ‘मूल्य’ को अति व्यापक तरीके से व्याख्यायित किया— “It is necessary in our national education to give a most important place to what is called "Moral Education"... Let us see exactly what we mean. We find in ourselves certain things that we call emotions and feelings. As we study emotion, we recognise the enormous part that it plays in life. As we study emotion, we find that out of emotion grow up all the attractions that make a family, a town, a community, and a nation that bind men together into nations and peoples.”

*-(Speeches and Writings of Annie Besant.p.25)*

डा० बेसेन्ट के मतानुसार राष्ट्रीय शिक्षा सिर्फ सरकार का कार्य नहीं अपितु देश के नागरिकों का कर्तव्य है। राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए डा० बेसेन्ट ने विभिन्न आंदोलन आरंभ किए जिससे स्वावलंबन, राष्ट्रीयता, आत्माभिमान, स्वाभिमान, समानता और सद्भाव की स्थापना की जा सके।

डा० बेसेन्ट यह देखकर आहत थीं कि गौरव और वैभव से परिपूर्ण भारत आज पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण कर रहा है जबकि स्वयं भारतीय धर्मदर्शन एवम् संस्कृति समस्त विश्व के लिए अनुकरणीय है। वह चाहती थीं कि भारत के युवा यहाँ की प्राचीन परंपराओं से अवगत हों और भारतीय आध्यात्मिकता को संपूर्ण मानव जाति के कल्याणार्थ प्रयोग कर सकें। डा० बेसेन्ट ने सिर्फ प्राचीन परंपराओं की ही बात नहीं की। वह आधुनिक समाज की जरूरतों से भी अनभिज्ञ नहीं थीं। इसलिए उन्होंने एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की सिफारिश की जो छात्र को अपने पैरों पर खड़ा कर सके एवम् उनका भविष्य सुरक्षित कर सके। डा० बेसेन्ट अपने इन विचारों में ‘गुरुकुल’ एवम् ‘आश्रम’ जैसी प्राचीन शिक्षण पद्धतियों से बहुत अधिक प्रभावित थीं। उनका यह मत था कि— “Here is an Indian ideal that it would be well to revive...It (India) must have a few representations (of the ancient Ashrama) if she is to rise to her former level in supreme intellectual and spiritual achievement.”

*-(The Besant Spirit, Vol-2, pp.48-50)*

डा० बेसेन्ट ने कहा कि जिस प्रकार प्राचीन काल में राजा गुरुकुल एवम् आश्रमों को वित्तीय सहायता देते थे परंतु उन पर आधिपत्य नहीं जमाते थे, उसी प्रकार आधुनिक युग में एक ऐसी सरकार की जरूरत है जो शैक्षणिक संस्थानों को सहायता



तो प्रदान करे परंतु उन पर अपना अधिकार न जमाए। जिससे कि हमारे समाज में शिक्षित एवम् निपुण पुरुष एवम् स्त्रियों के निर्माण में किसी प्रकार की कोई बाधा न आए।

आधुनिक भारतीय शिक्षण पद्धति की कड़े शब्दों में आलोचना करते हुए डा० बेसेन्ट कहती हैं कि आज की शिक्षा सिर्फ बौद्धिकता को बढ़ावा दे रही है। यह शिक्षा व्यवस्था छात्र की शारीरिक, मानसिक एवम् आध्यात्मिक पिपासा को शांत करने में सर्वथा असफल है। इससे छात्र के संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं किया जा सकता। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था पर कुठाराघात करते हुए डा० बेसेन्ट ने कहा कि यह शनैः शनैः ऐसे व्यक्तियों का निर्माण कर रही है जिन्हें सिर्फ अपने स्वार्थ की चिन्ता है। ऐसे व्यक्ति राष्ट्र एवम् समाज के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन में जिम्मेदार नहीं होते। इस सोचनीय स्थिति के लिए डा० बेसेन्ट ने मूल्यहीन शिक्षा को उत्तरदायी बताया। उन्होंने कहा— “What do we find in modern India? An education directed to one part of the body's nature only, developing the intelligence, training the intellect, but leaving entirely on one side the spiritual nature, and the moral or emotional nature, disregarded...Such an education...can never build up a true man of the world, able to discharge his duties in the world... What sort of a nation can you have where the education given to its young is but one quarter of what it should be....?”

—(The Besant Spirit. Vol-2, pp. 61-62)

डा० बेसेन्ट के अनुसार मूल्यपरक राष्ट्रीय शिक्षा का विकास तभी संभव है जब शिक्षक भी मूल्यनिष्ठ होंगे। शिक्षक का व्यक्तित्व ऐसा होना चाहिए जिससे कि वह विद्यार्थियों में अन्तर्निहित भावनाओं को प्रस्फुटित कर सके। शिक्षक की निर्णायक भूमिका पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि विद्यार्थी अपने अतीत की धरोहर एवम् यशस्वी भविष्य के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। उचित मार्गदर्शन द्वारा शिक्षक ही उसे इन अमूल्य विषयों से अवगत करा सकता है। शिक्षक ही छात्र के चरित्र का निर्माता होता है। डा० बेसेन्ट के शब्दों में— “छोटे बच्चों के लिए सबसे आवश्यक वस्तु करुणा है। हमें उनके साथ कोमलता और स्नेह का व्यवहार करना चाहिए न कि जबरदस्ती करके हाँकना चाहिए। यही शिक्षा का महत्वपूर्ण तत्त्व है जिसके ऊपर किसी पुरुष अथवा स्त्री का चरित्र निर्भर है।”

—(किशोर नागरिक, पृ० 11-12)

डा० बेसेन्ट का तर्क है कि वर्तमान समाज में गुरु पद की महिमा का विघटन हुआ है। आज विद्यार्थी गुरु के प्रति वैसी श्रद्धा नहीं रखता जैसी प्राचीन काल में दृष्टिगोचर होती थी। उनके अनुसार ऐसा शिक्षण पद्धति में धार्मिक एवम् नैतिक मूल्यों के क्षय के कारण हुआ है। इसीलिए उन्होंने भारत में अंग्रेजों द्वारा प्रसारित भौतिक शिक्षा-व्यवस्था का घोर विरोध किया तथा ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा की महत्ता पर बल दिया

जो विद्यार्थियों में राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण कर सके। ऐसी शिक्षा संस्कार, सद्भाव एवम् नैतिकता पर आधारित होगी। राष्ट्रीय शिक्षा के अभाव में भारत में विभाजन, विभेद और विद्वेष की स्थिति का आविर्भाव हो जाएगा।

डा० बेसेन्ट ने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार एवम् प्रसार के क्षेत्र में महती भूमिका निभाई। उन्होंने इस दिशा में आंदोलन भी आरंभ किए जिससे युवाओं में राष्ट्र के प्रति प्रेम, बलिदान एवम् स्वाभिमान की भावना जागृत हो सके। डा० बेसेन्ट ने अपने शिक्षादर्शों को मूर्त रूप देने के लिए कई स्कूलों और महाविद्यालयों की स्थापना की जिसमें 1898 में वाराणसी में स्थापित 'सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज' और स्कूल प्रमुख हैं।

इसी क्रम में उन्होंने स्त्री एवं दलितों की शिक्षा पर भी बल दिया। एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण बिना स्त्रियों को शिक्षित किए बिना नहीं हो सकता। 1901 में प्रकाशित स्त्री शिक्षा पर एक लेख में उन्होंने लिखा है कि यदि भारत की स्त्रियाँ अशिक्षित रहेंगी तो भारत कभी भी विकास की राह पर नहीं चल पाएगा। उन्होंने पाँच क्षेत्रों में स्त्री शिक्षा की बात की : शारीरिक, नैतिक, आध्यात्मिक, शैक्षणिक, कलात्मक और वैज्ञानिक। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि वैज्ञानिक शिक्षा स्त्री को घरेलू कार्यों के संपादन में मददगार साबित होगी। घरेलू कामों के उपयुक्त निरावेशन हेतु यह आवश्यक है कि स्त्रियों को शिक्षित किया जाए। उन्होंने कहा कि एक शिक्षित माता ही अपनी संतान को शिक्षा का महत्त्व समझा सकती है। अतः स्त्री शिक्षा को डा० बेसेन्ट ने राष्ट्रीय शिक्षा की धारा में शामिल किया क्योंकि किसी भी बच्चे की पहली शिक्षक उसकी माता होती है। माता ही अपने बच्चों में मूल्यों के बीज बोती है, जिससे कि उसका चारित्रिक विकास संभव होता है।

अछूतों की शिक्षा पर बल देते हुए डा० बेसेन्ट ने 1909 में प्रकाशित पुस्तिका *The Education of the Depressed Classes* में यह तर्क दिया कि शिक्षा ही एकमात्र ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा अछूतों का उद्धार किया जा सकता है। उन्होंने साफ शब्दों में कहा कि अछूतों को राष्ट्र पर बोझ नहीं समझना चाहिए अपितु उनके कल्याणार्थ विभिन्न दिशा, मुख्यतः शिक्षा की दिशा में प्रयास किए जाने चाहिए।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि डा० एनी बेसेन्ट की शिक्षा परिकल्पना का आधुनिक भारत में सर्वथा अभाव है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य मानव निर्माण नहीं अपितु उसका लक्ष्य जीविकोपार्जन है। आज शिक्षा तपश्चर्या या साधना नहीं वरन् व्यवसाय और धनागम का माध्यम बन चुकी है। हालाँकि शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यों का अभाव तो विश्व के अनेक देशों में दृष्टिगोचर होता है परंतु भारत के संदर्भ में यह समस्या अत्यंत गंभीरता से ली जानी चाहिए। क्योंकि भारत का एक आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, मूल्यनिष्ठ और नैतिक अतीत रहा है। वर्तमान परिदृश्य

में मूल्य विहीन शिक्षा व्यवस्था हमारा ध्यान बार-बार उस गौरवमयी अतीत की ओर आकर्षित करती है। आज हम युवाओं की एक ऐसी फौज खड़ी कर रहे हैं जिनमें न तो पाश्चात्य संस्कृति के मूल तत्त्व हैं और न ही भारतीय संस्कृति के। ऐसी अधकचरी मानसिकता से युक्त युवा पीढ़ी कभी भी देश को आगे बढ़ाने में मदद नहीं कर सकती।

यहाँ पर यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि डा० एनी बेसेन्ट की मूल्यपरक राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। डा. बेसेन्ट की धर्म आधारित शिक्षा युवा पीढ़ी का मार्गदर्शन करने में सफल हो सकती है। मूल्यों की पुनर्स्थापना द्वारा ही हम आधुनिक भारतीय समाज की कुरीतियों एवम् दुराचार से छुटकारा पा सकते हैं। अतः मूल्यों की सुरक्षा एवम् उनके संवर्धन के लिए यह अत्यावश्यक है कि हम बच्चों एवं युवाओं में शिक्षा के द्वारा मूल्यों के बीज बो सकें। डा० बेसेन्ट की मूल्यनिष्ठ शिक्षा ही हमें अपने गौरवमयी अतीत को पुनर्जीवित करने में सफलता प्रदान कर सकती है।

#### संदर्भ :-

1. Kahlol, Yudhistar. *A Handbook of Education*, Anmol Publication Pvt. Ltd., New Delhi, 2004
- 2- Forbes, Geraldine. *Women in Modern India*, Cambridge University Press, Cambridge, 1996
3. Singh, Y.K. and Ruchika Nath. *Education in Emerging Indian Society*, APH Publishing Corporation, New Delhi, 2008
4. Nanda, R. T. *Contemporary Approaches to Value Education in India*, Regency Publications, New Delhi, 1997
5. Chandra, S.S. and R.K. Sharma. *Philosophy of Education*, Altantic Publishers, New Delhi, 2004
6. Kumar, Raj. *Anni Besant's Rise to Power in Indian Politics, 1914-1917*, Concept Publishing Company, New Delhi, 1981
7. एनीबेसेन्ट, अनुवादिका कुमारी एनी मिडे, *किशोर नागरिक*, इंडियन बुक शॉप, कमच्छा, वाराणसी, पृ०11-12
8. Chaube, S.P. *Recent Philosophies of Education in Indian*, Concept Publishing Company, New Delhi, 2005.

\*\*\*\*\*

# मानवीय मूल्यों की शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिन्तन की उपादेयता

दिनेश कुमार सिंह\*

## 1. सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि –

संस्कृत में एक श्लोक है – ज्ञानं तृतीय मनुजस्य नेत्र समस्त पदार्थ विलोम दक्षमः अर्थात् दो नेत्रों के देखने से जो अपूर्ण रह जाता है वह विद्यारूपी तृतीय नेत्र से देखा जाता है। शिक्षा मानव के विकास का प्रमुख आधार स्तम्भ है जो उसे कुशल और प्रशिक्षित कर प्रगति के पथ पर ले जाती है। शिक्षित नागरिक ही समाज और देश के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

भारतीय शिक्षा नीति में मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है और 'सभी के लिए शिक्षा' को केन्द्र में रखकर शिक्षा के विस्तार के विभिन्न कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया है। देश में प्रारम्भ से ही यह प्रयास किया गया है कि 6-14 वर्ष तक के सभी बालक-बालिकाओं को स्कूल में प्रवेश दिलाया जाए। परिणाम स्वरूप प्राथमिक स्तर पर बालक-बालिकाओं का नामांकन जहाँ 1950-1951 में केवल 42.6 था, वह 2004-05 में बढ़कर 107.8 प्रतिशत हो गया। उल्लेखनीय है कि वर्तमान में बालकों का नामांकन अनुपात 110.7 और बालिकाओं का 104.7 है। बालक-बालिकाओं के नामांकन में हुई यह वृद्धि पिछले दशकों में शिक्षा सुविधाओं के विस्तार का परिणाम है।

भारत सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किये गए गंभीर प्रयासों के परिणाम स्वरूप देश में साक्षरता दर जो 1951 में 18.33 प्रतिशत थी, 1991 में बढ़कर 52.21 प्रतिशत हो गई और अब लगभग 68 प्रतिशत है। देश में उच्च शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा तथा तकनीकी शिक्षा संस्थाओं की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है (कुरुक्षेत्र, सितम्बर 2010)।

ऐसी वृद्धि एवं विकास के बावजूद भारतीय शैक्षिक परिदृश्य में एक निराशाजनक पहलू भी परिलक्षित हो रहा है। आज की प्रचलित शिक्षा दिशाहीन एवं निरर्थक सी दीख रही है, क्योंकि शिक्षा से मूल्यों का विच्छेद सा हो गया है। शिक्षा मूल्योन्मुख न होकर, मूल्य विमुख है। शिक्षा से सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों-सत्य, धर्म, शान्ति, प्रेम एवं अहिंसा का अधिकांशतः विलोप होता नजर आ रहा है, जिससे सम्पूर्ण मानव जीवन की गुणवत्ता अवमूल्यित हो रही है। मानवीय जीवन की गुणवत्ता का मानवीय मूल्यों से अनन्य सम्बन्ध है। मूल्य विमुख शिक्षा प्रणाली का दुष्प्रभाव यह हो रहा है कि यह भौतिकतावादी प्रवृत्तियों एवं उपभोक्तावादी समाज को प्रोत्साहित कर रही है।

उपरोक्त परिस्थितियाँ भारतीय शिक्षा परिदृश्य को प्रभावित कर रही हैं। इसके फलस्वरूप समाज में अशांति, भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि का बोलबाला होता चला जा रहा है। अतः ऐसे मार्ग की खोज आवश्यक है जिस पर चलकर समाज में सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों को प्रोत्साहित किया जा सके, जिससे समाज में शांति, प्रेम, सौहार्द, नैतिकता, सहिष्णुता, अहिंसा आदि की स्थापना की जा सके। समाज में उपरोक्त मूल्यों की स्थापना में महात्मा गांधी के शैक्षिक चिन्तन की उपादेयता पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि समकालीन भारतीय एवं वैश्विक शैक्षिक चिन्तकों में गांधी जी के शैक्षिक चिन्तन में सार्वभौमिक मानवीय मूल्य सर्वाधिक मुखरित एवं परिलक्षित होते हैं।

मानवीय मूल्यों की शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में महात्मा गांधी के शैक्षिक चिन्तन की उपादेयता को विवेचित करने का नीचे प्रयास किया गया है :-

## 2. सार्वभौमिक मानवीय मूल्य -

सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों की शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में गाँधी जी के शैक्षिक चिन्तन की उपादेयता को समझने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों के स्वरूप को समझा जाये। आगे सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों पर प्रकाश डाला गया है।

सार्वभौमिक मानवीय मूल्य वे मानवीय मूल्य हैं जो देश, समाज एवं काल की सीमा से परे प्रत्येक देश एवं समाज के लिए आवश्यक एवं उपादेय हैं। एक स्वस्थ एवं मानवीय समाज के निर्माण के लिए इन मूल्यों की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है। इनकी संख्या पाँच है। ये मानव जीवन के पाँच स्तम्भ हैं। इसलिए इन्हें पंचरत्न तथा पंचशील कहा जाता है। ये मूल्य हैं-

1. सत्य — Truth
2. धर्म — Righteous conduct
3. शांति — Peace
4. प्रेम — Love
5. अहिंसा — Non-Violence

उपरोक्त पाँचों मानवीय मूल्य, मानव जीवन के पाँच पक्षों से सम्बन्धित हैं -

1. शारीरिक पक्ष — Physical domain
2. बौद्धिक पक्ष — Intellectual domain
3. संवेगात्मक पक्ष — Emotional domain
4. मनः पक्ष — Psychic domain
5. आध्यात्मिक पक्ष — Spritual domain



ये मानवीय मूल्य मानवता के आधार एवं सार्वभौमिक हैं। किसी भी देश, समाज एवं काल में इनकी आवश्यकता, उपयोगिता, सार्थकता एवं उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता।

### 3. सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों की शिक्षा एवं गाँधी जी का शैक्षिक चिन्तन –

समकालीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिकों में गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का उनके जीवनकाल में जितना अधिक प्रचार-प्रसार हुआ, उतना किसी अन्य समकालीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिक के विचारों का नहीं हुआ। इसका एक बड़ा कारण यह था कि गाँधी जी देश के सर्वमान्य नेता थे और जनता में उनके विचारों का बड़ा मान था। विचार एवं व्यवहार में एकरूप गाँधी जी ने सम्पूर्ण शिक्षा का केन्द्र नीति-शास्त्र एवं मूल्यों को माना। उनको विश्वास था कि शिक्षा मनुष्य का विकास करके उसका चरित्र-निर्माण करती है और यह दोनों ही मनुष्य को ईश्वरीय ज्ञान और आत्म-बोध की ओर उन्मुख करने में सहयोग देते हैं। शिक्षा का कार्य है मनुष्य की आत्मा का परिमार्जन करना, क्योंकि आत्मसंस्कार के बिना सभी प्रशिक्षण हानिकारक व व्यर्थ हो सकते हैं।

गाँधी जी शिक्षा द्वारा मूल्य-आधारित एक नये समाज की रचना करना चाहते थे। असमानता, शोषण तथा हिंसा पर आधारित समाज गाँधी जी को स्वीकार्य नहीं था। अतः उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी अपने विचारों को विभिन्न अवसरों पर बड़े स्पष्ट रूप से व्यक्त किया। शिक्षा के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए गाँधी जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में लिखा है "शिक्षा का अर्थ क्या है? केवल अक्षरों का ज्ञान। यह तो केवल उपकरण है, और उपकरण का सदुपयोग भी संभव है, दुरुपयोग भी। जिस उपकरण से किसी रोगी की चिकित्सा की जाती है, उसी से उसकी हत्या भी हो सकती है। यही हाल शिक्षा का भी है। जितने लोग इसका सदुपयोग करते दिखाई देते हैं, उससे कहीं ज्यादा लोग इसका दुरुपयोग करते दिखाई देते हैं और अगर यह उक्ति सही है तो यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि इस शिक्षा से लाभ कम हुए हैं, हानि अधिक।"

शिक्षा की व्याख्या करते हुए गाँधी जी ने कहा "शिक्षा से मेरा आशय बालक और मनुष्य के शरीर, आत्मा एवं मन के सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वांगीण विकास से है।" (गाँधी, मो0क0, हरिजन, 31-7-1937)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गाँधी जी शिक्षा के द्वारा बालक या मनुष्य के एकांगी विकास के विरुद्ध थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि शिक्षा के द्वारा बालक के मन, बुद्धि एवं शरीर सबका संतुलित विकास होना चाहिए।

मानवीय मूल्यों की शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में गाँधी जी के शैक्षिक चिन्तन पर विचार

करने पर यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि गाँधी जी शिक्षा में सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों के प्रबल समर्थक हैं। गाँधी जी के हर क्षेत्र की कार्यप्रणाली उनके जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है। जीवन-दर्शन के रूप में वे सत्य के अनूठे पुजारी थे। उन्होंने ईश्वर को सदैव एक सत् की सत्ता के रूप में स्वीकार किया। उनका मानना था कि सत् का अभिप्राय अस्तित्व भी है। अतएव सत्य के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व संभव नहीं है। उनके द्वारा कल्पित 'सत्याग्रह' का तात्पर्य था – जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति सत्य की दिशा में लिये गये निर्णय पर अडिग रह सके। जो व्यक्ति सत्य पर अडिग रहता है वह जीवन में सफलता की ओर उन्मुख होता है, ऐसा गाँधी जी का प्रबल विश्वास था।

गाँधी जी का उपरोक्त जीवन-दर्शन उनके शैक्षिक चिंतन में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। शिक्षा और सत्य के सम्बन्ध पर विचार व्यक्त करते हुए गाँधी जी ने कहा "सच्ची शिक्षा वह है जो आत्मा, ईश्वर और सत्य को जानने में हमारी सहायता करे" (गाँधी, मो0क0, हरिजन, 8 मई 1937)

धर्म का शाब्दिक अर्थ है धारण करना। धर्म एक प्रकार से नैतिक संहिता एवं उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन जीने का ढंग है। मनु के अनुसार सही आचरण ही सर्वोच्च धर्म है।

धर्म सम्बन्धी गाँधी जी के विचार अत्यन्त विस्तृत हैं। उनके विचारों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-कल्याण ही विश्व-धर्म है। इसके लिए आचरण या चरित्र-निर्माण सर्वप्रमुख आवश्यकता है। इसी कारण गाँधी जी चरित्र-निर्माण को शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य मानते हैं। अपनी आत्म-कथा में उन्होंने लिखा है—'मैंने सदा हृदय की संस्कृति अथवा चरित्र के प्रथम स्थान प्रदान किया है। मैंने चरित्र को बालकों की शिक्षा की उचित नींव माना, और यदि नींव मजबूत पड़ जाये, तो अन्य बातें मित्रों आदि की सहायता से बच्चे स्वयं सीख सकते हैं' (गाँधी, मो0क0, सत्य के प्रयोग, पृ0 408)।

गाँधी जी शिक्षा में चरित्र निर्माण को साक्षरता से अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। एक बार जब उनसे किसी ने पूछा कि देश को स्वतन्त्रता दिलाने के बाद आपकी शिक्षा का लक्ष्य क्या होगा तो गाँधी जी ने तुरन्त उत्तर दिया, 'चरित्र-निर्माण'।

शांति संभवतः मानव जीवन की सर्वाधिक अपेक्षित वस्तु है। मनुष्य अन्दर और बाहर दोनों की शांति के लिए सबसे अधिक इच्छुक होता है। आज विश्व में चारों ओर अशांति है, क्योंकि मानवीय मूल्यों को भौतिक मूल्य प्रभावित कर रहे हैं जिससे मानव जीवन की गुणवत्ता का अवमूल्यन हो रहा है। शांति, मानवता के समक्ष एक चिरकालीन लक्ष्य है। यह एक व्यापक अवधारणा है जिसमें बहुत से मूल्य समाहित हैं। यह एक

मानसिक अभिवृत्ति है जिसमें प्रेम, करुणा, एकता, सहनशीलता, अंतर निर्भरता और परमार्थ निष्ठा आदि मूल्य समाहित हैं।

गाँधी जी के सम्पूर्ण चिन्तन में शांति एवं अहिंसा केन्द्र बिन्दु है। संसार में शांति के सृजन में शिक्षा की भूमिका से गाँधी जी भलि-भांति परिचित थे, अतः उन्होंने अपने शैक्षिक चिन्तन में इस प्रकार की शिक्षा की वकालत की जिससे समाज में शांति का सृजन किया जा सके। इसीलिए उन्होंने कहा कि—“यदि हम विश्व में वास्तविक शांति की शिक्षा देना चाहते हैं तो हमें इसकी शुरुआत बच्चों से करनी होगी। हमारे बच्चे अगर अपने सहज भोले-भाले रूप में बड़े हो सकें तो न हमें संघर्ष करना पड़ेगा और न व्यर्थ के प्रस्ताव पास करने पड़ेंगे। तब हम एक प्रेम से दूसरे प्रेम और एक शांति से दूसरी शांति तक बढ़ते चले जायेंगे, यहाँ तक कि विश्व में सर्वत्र शांति और प्रेम का साम्राज्य छा जायेगा जिसके लिए आज सारी दुनिया तरस रही है।”

गाँधी जी ने जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान शिक्षा के क्षेत्र में भी अहिंसा पर जोर दिया है। वे शिक्षा और हिंसा को परस्पर विरोधी मानते हैं और शिक्षा के द्वारा एक अहिंसक समाज की स्थापना करना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है—“यदि भारत ने हिंसा के निषेध का निश्चय कर लिया है, तो शिक्षा की यह प्रणाली उसके अनुशासन का एक अन्तरंग अंग बन जाती है। हमें बताया जाता है कि इंग्लैण्ड शिक्षा पर लाखों व्यय करता है। अमेरिका भी ऐसा ही करता है। परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि समस्त सम्पत्ति शोषण से प्राप्त होती है। उन्होंने शोषण की कला को विज्ञान बना डाला है और इसलिए वे अपने लड़कों को वह कीमती शिक्षा दे सकते हैं जो कि वे देते हैं। हम शोषण के शब्दों में नहीं सोच सकते और न ऐसा करेंगे ही, और हमारे सामने इस शिक्षा योजना के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है, जो कि अहिंसा पर आधारित है” (गाँधी, मो0क0, एजुकेशनल रीकंस्ट्रक्शन, पृ0 66)।

गाँधी जी की अहिंसा का तात्पर्य सिर्फ इतना नहीं है कि किसी का वध नहीं किया जाए। वरन गाँधी जी की अहिंसा का अर्थ है — बुरे तथा निरर्थक विचार मन में न लाना, द्वेष, घृणा आदि से दूर रहना, अशुभ चेतना से परे रहना, आवश्यकता से अधिक वस्तु संग्रह न करना, शोषण का तिरस्कार करना व किसी को अनावश्यक रूप से न डराना। उन्होंने ‘अहिंसा की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए ‘हिंसा’ की व्याख्या की है। उनके अनुसार हिंसा राष्ट्र द्वारा राष्ट्र का, व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का, पुरुष द्वारा महिला का, प्रणाली द्वारा प्रणाली का और मशीन द्वारा व्यक्ति का आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक शोषण है। हिंसा के ठीक विपरीत अहिंसा है जिसके कम से कम आठ अवयव हैं—शांति, समानता, निर्भयता, मानवता, प्रेम, आत्म-नियन्त्रण, सत्य और सहनशीलता। महात्मा गाँधी ने एक अहिंसक समाज की कल्पना की थी जो सभी

प्रकार के शोषण से मुक्त होगा तथा इसकी प्राप्ति शिक्षा द्वारा होगी।

#### 4. निष्कर्ष –

कोई भी दर्शन तथा उसका प्रणेता इसलिए महान होता है कि जब समाज या राष्ट्र के सामने कोई संकट उपस्थित होता है तब उस दर्शन के आलोक में संकट से उबरने का मार्ग प्रशस्त होता है। आज देश में मानवतावादी मूल्यों के लिए एक बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया है। समाज में चारों ओर हिंसा, अशांति, भ्रष्टाचार, स्वार्थ आदि का बोलबाला है। आज प्रत्येक व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण अपनी भौतिक प्रगति चाहता है और इसके लिए अनैतिक तथा समाज विरोधी गतिविधियों से भी परहेज नहीं करना चाहता। भौतिक विकास तथा स्वार्थपूर्ति की इस आपाधापी एवं जद्दोजहद में मानवीय मूल्य पीछे छूटते चले जा रहे हैं।

इन परिस्थितियों से निबटने में गाँधी जी का दर्शन एवं उनका शिक्षा-दर्शन काफी प्रेरक प्रतीत होता है, क्योंकि उनके शैक्षिक चिंतन में मानवतावादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। गाँधी जी के शैक्षिक चिंतन के समग्र विवेचन एवं विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उनके शैक्षिक चिंतन में मानवीय मूल्यों की शिक्षा को केन्द्रीय महत्व एवं स्थान प्रदान किया गया है। ब्रह्मचर्य, आत्म-संस्कार, नैतिकता, चरित्र-निर्माण, मानव-सेवा, शांति, आपसी प्रेम, अहिंसा उनकी शैक्षिक योजना के लक्ष्य एवं उद्देश्य हैं।

गाँधी जी के दर्शन के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ० राधाकृष्णन ने ठीक ही लिखा है—अपने जीवन एवं उपदेश द्वारा उन्होंने मूल्यों का ऐसा प्रभाव रखा जिसको यह देश युगों से मानता रहा है। ऐसे मूल्य जो केवल राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय नहीं, वरन् सार्वभौमिक एवं शाश्वत हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मानवीय मूल्यों की शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में गाँधी जी का शैक्षिक चिंतन उपादेय एवं सार्थक है। गाँधी जी के शैक्षिक चिंतन को अपनाकर समूची मानवता को मूल्य-ह्रास के आसन्न संकट से बचाया जा सकता है।

\*\*\*\*

## भारत की समस्यायें : स्वामी विवेकानन्द का विश्लेषण

संध्या त्रिपाठी\*

सम्पूर्ण विश्व में भारतीय संस्कृति का अद्वितीय स्थान है। जब यह देश सदियों के राजनीतिक दासता तथा गतिहीनता के पश्चात् स्वाधीन हुआ तब सम्पूर्ण देश हर्षोन्माद से भर गया। यह वस्तुतः राष्ट्रीय हर्ष का अवसर था जिसके पीछे त्याग और सेवा की दिव्य प्रवृत्तियाँ निहित थी। लेकिन आज स्वाधीनता के इतने वर्षों के पश्चात् भी हमारा देश बड़े संक्रान्ति के दौर में चल रहा है। इसका कारण यही है कि नाना प्रकार की नकारात्मक, स्वार्थपूर्ण एवं विखण्डनात्मक प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण जनजीवन में व्याप्त हो गयीं हैं। वर्तमान समय में जब हम अपनी उपलब्धियों का सिंहावलोकन करते हैं तो पाते हैं कि हमने विज्ञान, कृषि, अभियंत्रण में प्रगति कर ली है लेकिन हमें हिंसा, मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार, अशिक्षा, नारी की समस्या, आम जनता की उपेक्षा, आलस्य, संगठन का अभाव आदि अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इन समस्याओं के समाधान के लिए स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है। उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण करके उसके बारे में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया एवं उसकी समस्याओं से अवगत हुए। उन्होंने भारत के भूतकाल का, वर्तमान का, तथा भविष्य का तथा देश की अवनति के कारणों पर मनन किया तथा उन साधनों पर विचार किया जिससे देश का पुनः उत्थान हो सका। उनका मानना था कि संसार जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा है वैसे-वैसे जीवन की समस्यायें गहरी और व्यापक हो रही हैं। स्वामी विवेकानन्द ने बड़ी सूझबूझ और अर्न्तदृष्टि से भविष्यवाणी की कि “विश्व ब्रह्माण्ड का एक परमाणु सारे संसार को अपने साथ बिना घसीटे तिल भर भी हिल नहीं सकता। जब तक सारे संसार को साथ साथ उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ाया जायेगा, तब तक संसार के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है और प्रतिदिन यह और भी स्पष्ट हो रहा है कि किसी प्रश्न की मीमांसा सिर्फ जातीय, राष्ट्रीय या किन्हीं संकीर्ण भूमियों पर नहीं टिक सकती। इस प्रकार उनका यही कहना था कि हर एक विषय को तथा हर भाव को तब तक बढ़ाना चाहिए जब तक उसमें सारा संसार न आ जाए। हर एक आकांक्षा को तब तक बढ़ाते रहना चाहिए, जब तक वह समस्त मानव जाति को ही नहीं वरन् समस्त प्राणी जगत को आत्मसात न कर लें।”<sup>1</sup> उन्होंने अपने विश्लेषण के आधार पर यह बताया कि हमारा देश गत कई सदियों से वैसा महान् नहीं रह गया है जैसा प्राचीन युग में था। उनके द्वारा उन कारणों की विवेचना भी की गई जिनके कारण उसका पतन हुआ। उन्होंने जिन समस्याओं की विवेचना की उनमें अनेक समस्यायें अभी भी विद्यमान हैं जिसके कारण



देश प्रगति की ओर उन्मुख नहीं हो पा रहा हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भारत की जिन समस्याओं को बताया है उनमें कुछ प्रमुख निम्नवत् है—

#### **धर्म में विकृति —**

स्वामी विवेकानन्द ने बताया कि धर्म हमारे राष्ट्र का मेरुदण्ड है। इस धर्म की उपेक्षा के कारण ही भारतवर्ष की अवनति हुई। वर्तमान समय में भी यदि हम उत्थान के सोपान पर आरुढ़ नहीं हो पा रहे हैं तो उसके मूल में धर्म की अवमानना ही है। भारत एक विशाल देश है जिसमें बहुधर्मी लोग निवास करते हैं। लेकिन उनमें आपसी तनाव एवं संघर्ष बना रहता है जिससे साम्प्रदायिकता जैसी समस्याओं का उदय होता है। भारत में साम्प्रदायिकता जैसी समस्या बहुत पहले से ही विद्यमान है। यह ब्रिटिश शासन की नकारात्मक देन है और वर्तमान समय में यह एक देशव्यापी समस्या बन गयी है। इन समस्याओं के समाधान के लिए स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन का अवलोकन करना होगा। उनका स्पष्ट शब्दों में कहना है कि “सम्प्रदाय रहे लेकिन साम्प्रदायिकता न रहे”<sup>1</sup> उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए बताया कि धर्म से तात्पर्य विश्वजनित सनातन वैदिक धर्म या वेदान्त से है। इस धर्म की मौलिक मान्यता यह है कि प्रत्येक प्राणी दिव्य ब्रह्म की अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। अतः स्वामी विवेकानन्द के धर्म की प्रथम शर्त है मनुष्य की दिव्यता। मनुष्य की दिव्यता की अवहेलना के कारण हम पराधीन हुए क्योंकि हमारे राष्ट्रीय जीवन का आधार विखण्डित होता गया। इस राष्ट्र ने हजारों वर्षों तक विश्व का आध्यात्मिक मार्गदर्शन किया जिसके कारण यह जगतगुरु कहलाया। भौतिक सम्पदा की दृष्टि से हम सम्पन्न राष्ट्र थे और पृथ्वी के दूसरे राष्ट्र हमारे देश को सोने की चिड़िया कहा करते थे, यह इसलिए सम्भव हो सका था कि हमने उस वैदिक सन्देश एवं व्यक्ति की वास्तविक दिव्यता में विश्वास किया था। उनका मत था कि मनुष्य की इस दिव्यता को अभिव्यक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन में धर्म का आचरण करें। इसके लिए उन्होंने सर्व धर्म-समभाव के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया एवं आन्तरिकता के साथ कार्यान्वित करने पर बल दिया। इससे उनका तात्पर्य यही था कि हमें सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखते हुए उन्हें स्वीकार करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द का मत था कि सत्य सभी धर्मों के मूल में है, अतः हमें सभी धर्मों की सत्यता को स्वीकार करना चाहिए और सभी धर्मों का सम्मान करना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि हमें इस देश का कल्याण करना है तो धर्म के माध्यम से ही करना होगा। उनका कहना था कि इस देश को आर्थिक तथा राजनीतिक विचारों से आप्लावित करने से पूर्व आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारों से आप्लावित करना होगा।

## आम जनता की उपेक्षा

वर्तमान समय में जनता की उपेक्षा भी भारत की एक समस्या है। स्वामी विवेकानन्द ने भारत की समस्याओं में आम जनता की उपेक्षा को प्रमुख समस्या माना था। यह भी हमारे पतन का एक कारण था। इनकी वर्तमान अवस्था भी अच्छी नहीं है। गरीबी महामारी ने उन्हें जकड़ रखा है। ये कठिन परिश्रम करते हैं लेकिन इन्हें तथा इनके परिवार के लिए सुख सुविधाये तो दूर, इनमें जीवन की प्रसन्नता के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते हैं। ये लोग इतने उत्पीड़ित हैं कि इन्होंने अपना पूरा आत्मविश्वास खो दिया है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि क्रूर समाज द्वारा उन पर प्रतिदिन आघात किये जा रहे हैं जिसके कारण प्रतिदिन वे डूबते जा रहे हैं और वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। इन सबका परिणाम हुआ—दासता। इस दासता को दूर करने के लिए काफी प्रयास किये गये लेकिन आज भी जन साधारण में छूआछूत, उच्च तथा निम्न जातियों के बीच भेद तथा अस्पृश्य कहे जाने वाले हमारे भाईयों के प्रति अत्याचार आदि रोग जड़ जमाये बैठे हैं। इसके अतिरिक्त आम जनता के जीवन की गुणवत्ता की भारी उपेक्षा की गयी है। स्वामी विवेकानन्द का स्पष्ट शब्दों में कहना है कि राजनीति के द्वारा इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि लोक सभा या विधानसभाओं में कानून बनाकर जनमानस को नहीं बदला जा सकता है बल्कि इन समस्याओं के समाधान के लिए हमारे समाज में आमूल चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। उन्होंने बताया कि हमारे समाज को हमारे धर्म के समान सर्वग्राही बनना होगा। जन साधारण को जिस प्रथम सत्य की आवश्यकता है वह है मानव मात्र की आध्यात्मिक एकता। उनका कहना है कि प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है अतः प्रत्येक मनुष्य के भीतर हृदय में ईश्वर विराजमान है। इस दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर सबके उत्थान का प्रयास करना होगा। सम्पूर्ण समाज में प्रेम, मनुष्य की दिव्यता, एवं एकात्मकता के सिद्धान्त को फैलाना होगा। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि “सर्वप्रथम स्त्रियों का वर्तमान दशा से उद्धार करना होगा। आम जनता को जगाना होगा तभी तो भारतवर्ष का कल्याण होगा।”<sup>3</sup>

## महिलाओं की समस्याएँ —

भारत में महिलाओं को प्राचीन समय से ही उच्च स्थान दिया गया है। नारी विकास का मूल स्रोत सम्पूर्ण व्यक्तित्व की गर्भधारिणी एवं विश्व की प्रणेता और प्राणदात्री रही है। वैदिक काल तक उनकी स्थिति सम्मानजनक रही लेकिन क्रमशः उनकी स्थिति बिगड़ती गई। उन्नीसवीं शताब्दी में उनकी स्थिति को सती प्रथा, बाल विवाह, अशिक्षा, लैंगिक असामनता एवं भेदभाव जैसी कुरीतियों ने और भी खराब बना दिया। स्वामी विवेकानन्द ने पर्दाप्रथा की आलोचना की तथा बाल विवाह का विरोध

करते हुए कहा कि “बाल विवाह से असामयिक सन्तानोत्पत्ति होती है और कम उम्र में सन्तान धारण करने के कारण हमारी स्त्रियां कमजोर होती हैं और उनकी दुर्बल सन्तान देश में भिखारियों की संख्या बढ़ाती हैं।”<sup>4</sup>

उन्होंने लैंगिक असमानता का प्रतिरोध करते हुए कहा कि “इस देश में पुरुष और स्त्रियों के बीच इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है? पर ब्रह्म तत्त्व में लिंग भेद नहीं है।”<sup>5</sup> इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों की सभी समस्याओं को दूर करने के लिए उचित शिक्षा पर बल दिया। उनका मत था कि उनकी समस्यायें भले ही बहुत गम्भीर हैं लेकिन उनमें ऐसी कोई समस्या नहीं है जो उचित शिक्षा से हल नहीं की जा सकती।

### **शिक्षा की समस्या —**

स्वामी विवेकानन्द ने प्रत्येक विषय के उत्थान के लिए शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया है, लेकिन वर्तमान स्थिति यह है कि लोगों को उचित शिक्षा नहीं मिल पा रही है। उचित शिक्षा के अभाव तथा निरक्षरता ने राष्ट्र की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया है। इसे दूर करने के लिए काफी प्रयास किया जा रहा है और इस क्षेत्र में कुछ प्रगति अवश्य हुई है लेकिन अभी भी यह समस्या बनी हुई है। इस परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था दोषपूर्ण है। उनके मतानुसार “जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो उसमें बहुत कुछ अच्छा अंश भी है, परन्तु उसमें बुराइयां बहुत अधिक हैं। ये बुराइयाँ उसके भले अंश को दबा देती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि शिक्षा मनुष्य बनाने वाली कही नहीं जा सकती। यह शिक्षा पूर्णतः निषेधात्मक है।”<sup>6</sup> अतः इसका जैसा परिणाम होना चाहिए वैसा ही हुआ। पिछले 62 वर्षों से दी जाने वाली इस शिक्षा ने एक भी मौलिक विचारों वाले व्यक्ति को पैदा नहीं किया। बचपन से हमारी शिक्षा ऐसी होती है कि उसमें निषेध तथा नकारात्मकता का ही प्राबल्य रहता है। देश में शिक्षा शास्त्री हमारे बच्चों को केवल तोता बना रहे हैं और रटा रटाकर उनके मस्तिष्क में कई विषय दूंसते जा रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि “वाह ग्रेजुएट बनने के लिए क्या दौड़धूप” क्या अहमिका लगी है और कुछ दिन बाद फिर ठंडी पड़ जाती है और आखिर में वे क्या सीखते हैं? बस यही कि हमारा धर्म विचार और रीतिरिवाज सब खराब है। इस प्रकार के विचारों से हम अपने लड़कों को कमजोर कर रहे हैं।”<sup>7</sup> उनका मानना है कि हम विदेशी भाषा में दूसरे के विचारों को रटकर एवं अपने मस्तिष्क में दूंसकर और विश्वविद्यालयों की कुछ पदवियां प्राप्त करके अपने को शिक्षित समझते हैं। उन्होंने प्रश्न किया कि क्या हमारी शिक्षा का यही उद्देश्य होना चाहिए। उनका मत था कि “जिस शिक्षा द्वारा हम अपना जीवन गढ़ सकें और विचारों में सामंजस्य कर सकें, मनुष्य बन सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है।

स्वामी विवेकानन्द का मत है कि उच्च शिक्षा का उद्देश्य यही होना चाहिए कि हम मानव जीवन के उद्देश्य को समझ सकें, एवं जीवन की समस्याओं को सुलझा सकें।<sup>8</sup>

### संगठन शक्ति का अभाव, ईर्ष्या व आलस्य—

स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि हमारे देश के लोगों में संगठन शक्ति का अभाव, दृष्टि एवं कार्यक्षेत्र की संकीर्णता, आलस्य, स्वार्थ एवं ईर्ष्या की भावना पूर्ण रूप से विद्यमान है। यह भी एक बड़ी समस्या है। उनके मतानुसार, “बातें, बातें, बातें। यहां इसकी कमी नहीं है। हम बड़े हैं, हम बड़े हैं। सब थोथी बकवास है। हमलोग जड़ बुद्धि हैं, और यही तो है। इसी सन्दर्भ में वे कहते हैं कि तोते के समान बातें करना हमारा अभ्यास हो गया है—आचरण में हम बहुत ही पिछड़े हुए हैं इसका कारण क्या है? दुर्बल मस्तिष्क कुछ नहीं कर सकता है हमें इसको बलवान बनाना होगा।<sup>9</sup> स्वामी विवेकानन्द ने हमें बताया कि हमारे देश में मिलजुल कर कार्य करने के लिए कोई तैयार नहीं है क्योंकि हमारा दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित हो गया है। उनका कहना है कि “Organisation के लिए सबसे पहले Obedience (आज्ञापालन) की आवश्यकता है, इच्छा हुई तो कुछ किया अन्यथा चुपचाप, इस तरह से कोई महान कार्य नहीं होता है।<sup>10</sup> अतः इन समस्याओं को दूर करने के लिए हमें अपने भाईयों से मेल-जोल बनाये रखना चाहिए। वे कहते हैं कि एकमन हो जाना ही समाज का रहस्य है।

अतः इन समस्याओं का विश्लेषण करने पर यह तथ्य उभरकर हमारे सामने उपस्थित होता है कि वर्तमान समय में राष्ट्र में अनेक समस्याएँ विद्यमान हैं। जाति, धर्म, वर्ग, साम्प्रदायिकता आदि के कारण सम्पूर्ण देश विभाजित हो गया। ये भावनाएँ राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुँचा रही हैं। हमारा देश चारों ओर शत्रुओं से घिरा हुआ है। देश की सीमाएँ आक्रान्त हैं। विदेशी शक्तियाँ देश में आन्तरिक संकट पैदा करने के लिए सचेष्ट हैं। देश में अराजकता हिंसा और अव्यवस्था फैलाने वाले तत्त्व भी सक्रिय हैं। दूसरी ओर हमारे देशवासी भी व्यक्तिगत स्वार्थ एवं ईर्ष्या, पद लिप्सा, व्यक्तिगत लाभ, एवं अहंकार से ग्रस्त हैं। देशाभिमान से व्यक्तिगत अभिमान अधिक प्रभावी हो रहा है। धार्मिक जीवन भी क्रमशः हास की ओर है। वास्तव में हम राष्ट्र की समस्याओं को जानने एवं उनके समाधान के लिए स्वामी विवेकानन्द के विचारों का मंथन करें और उनके विचारों को आत्मसात् करें तभी हमारा राष्ट्र उन्नति की ओर अग्रसर हो सकेगा।

### सन्दर्भ :-

1. विवेकानन्द साहित्य खण्ड-5, अद्वैत आश्रम कोलकाता, 2004, पृ0-163
2. वही, पृ0-263

3. विवेकानन्द साहित्य खण्ड-6, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 1963, पृ0-37
4. स्वामी विवेकानन्द, 'भारतीय नारी', रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2008, पृ0-23
5. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-6, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 2001, पृ0-185
6. स्वामी विवेकानन्द, 'भारत और उसकी समस्यायें', रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2003, पृ0-39-40
7. विवेकानन्द साहित्य खण्ड- अष्टम, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 2001, पृ0-229-230
8. विवेकानन्द साहित्य खण्ड-5, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 2004, पृ0-195
9. वही, पृ0-137
10. विवेकानन्द साहित्य खण्ड, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 2005, पृ0-311

\*\*\*\*



## मूल्य : एक अवधारणात्मक अनुशीलन

शशिशेखर\*

वर्तमान युग में 'मूल्य' शब्द एक अत्यन्त प्रचलित शब्द बन गया है। मनुष्य के द्वारा जीवन में किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक व्यवहारों के स्तर को निरूपित करने के लिए मूल्य शब्द का बहुतायत से प्रयोग किया जा रहा है; किन्तु, यदि मूल्य पद के अर्थ को जानने के लिए समाजशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र आदि का अवलोकन किया जाय तो नैराश्य के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। यद्यपि मनुष्य के आचरण का समुचित अध्ययन प्रस्तुत करने वाले इन शास्त्रों में मूल्य शब्द का प्रयोग तो बारम्बार दृष्टिगोचर होता है तथापि इनमें इस शब्द का स्पष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता है। यही कारण है कि जब कभी हमें मूल्य पद का प्रयोग देखने को मिलता है तो हम अपने आन्तरिक अनुभवों के आधार पर उसका अर्थ समझने का प्रयास करते हैं।

वस्तुतः मूल्य शब्द के अर्थ को समझने के लिए मनुष्य के सीखने की प्रक्रिया पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। सीखना, मानव जीवन में सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त अपने अथवा दूसरों के विविध कार्य-कलापों से विविध अनुभवों को प्राप्त करके, मस्तिष्क में उनका संचयन करता रहता है। सीखने की इस प्रक्रिया में जैसे-जैसे वह अपने अनुभवों के भण्डार में अभिवृद्धि करता है, वैसे-वैसे उसके अन्दर परिपक्वता आती जाती है। उसके द्वारा संचित अनुभव उसके व्यवहार को निर्देशित करते हैं। मानव-जीवन को दिशा प्रदान करने वाले इन निर्देशनों को 'मूल्य' पद से अभिहित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मूल्य, मानव के द्वारा अपने अनुभव-भण्डार के आधार पर निश्चित किया गया किसी वस्तु अथवा स्थिति का वह गुण है, जो समालोचना एवं वरीयता को प्रकट करता है। यह एक आदर्श इच्छा है जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य आजन्म प्रयासरत रहता है।

यदि मूल्य शब्द के शाब्दिक अर्थ की ओर दृष्टिपात किया जाय तो मूल्य (Value) शब्द लैटिन भाषा के Valere (वैलियर) शब्द से बना है।<sup>1</sup> अंग्रेजी भाषा के शब्दकोश के अनुसार Valere शब्द का अर्थ है—Ability, Utility, Importance हिन्दी में इन शब्दों का अर्थ क्रमशः योग्यता, उपयोगिता एवं महत्त्व होगा। इस प्रकार शाब्दिक आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल्य किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का वह गुण है जिसके आधार पर उसका महत्त्व, सम्मान अथवा उपयोग समझा जाता है।

व्यवहारिक दृष्टिकोण से मनुष्य के कार्यों को उचित एवं अनुचित दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। अर्थात् वह कार्य जो करने योग्य है, उचित है तथा जो अकरणीय है वह अनुचित है। उचित अथवा करणीय के इस निर्धारण में व्यक्ति के

---

\*प्रवक्ता (संस्कृत), सर्वोदय इण्टर कालेज, रामगंज, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश

व्यक्तिगत हितों को ध्यान में न रखकर समाज के हितों को ध्यान में रखना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य के लिए करणीय अथवा उचित कार्य से तात्पर्य उनक कार्यों से है जो लोकहित को सम्पन्न करें।

वस्तुतः मूल्य किसी भी समाज के द्वारा स्वीकृत वे सामाजिक मानदण्ड, लक्ष्य अथवा आदर्श हैं, जिनके आधार पर किसी व्यक्ति के कार्य का मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रकार मूल्य से तात्पर्य व्यक्ति की उन अवस्थाओं अथवा भावनाओं से है जिसको वह अपने जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है, जिसे अपने जीवन में उतारने के लिए वह सतत् प्रयत्नशील रहता है तथा जिसके लिए वह अपने स्वार्थों को भी बलिबेदी पर चढ़ाने के लिए तैयार रहता है। मूल्यों को आत्मसात् करके व्यक्ति अपने सुन्दर चरित्र का निर्माण करता है तथा इनका ह्रास होने पर व्यक्ति को समाज में चारित्रिक रूप से पतित माना जाता है।

डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने मूल्यों को समाज की इच्छाओं एवं अभिलाषाओं के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज का ही एक अभिन्न अंग है। समाज, व्यक्ति के सामाजीकरण के प्रक्रिया के दौरान अपनी समस्त ऐसी इच्छाओं एवं मान्यताओं को व्यक्ति में अन्तर्निहित कर देता है जो उस व्यक्ति की प्राथमिकताओं, रुचियों एवं महत्वाकांक्षाओं के निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभाती हैं। समाज के इन्हीं इच्छाओं एवं महत्वाकांक्षाओं को मूल्य पद से अभिहित किया जाता है।<sup>१</sup> प्रसिद्ध समाजशास्त्री दुर्खीम ने भी मूल्यों को एक सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया है।<sup>२</sup> उनके अनुसार मूल्य समाज के द्वारा स्वीकार किये गये वैसे तथ्य हैं, जो मनुष्य को एक विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं।

इस प्रकार मूल्यों के स्वरूप के विषय में विमर्श करने पर निम्न तथ्य प्रकाश में आते हैं:—

1. मूल्य तीन प्रक्रियाओं पर आधारित होते हैं—चुनना, महत्त्व देना एवं क्रिया करना। ये तीनों प्रक्रियायें सामूहिक रूप से मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया को परिभाषित करती हैं। मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया से प्राप्त होने वाले परिणाम को ही मूल्य कहा जाता है।
2. मूल्य एक मानव विश्वास है, जिसके आधार पर मनुष्य अपने लिये करणीय तथा अकरणीय बातों का निर्धारण करते हुए अपने कार्यों को सम्पादित करता है।
3. मूल्य व्यक्ति के द्वारा प्राप्त किये जाने वाले निरन्तर अनुभवों से सम्बन्धित होते हैं। अनुभव ही उन्हें रूप देते हैं तथा उनकी जांच करते हैं।

4. मूल्य विश्वास तथा आचरण के आभ्यन्तरीकृत प्रतिमानों के रूप में वैयक्तिक या सामूहिक चयन के मानक हैं।
5. जॉनसन ने मूल्य को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया है। ये सांस्कृतिक हो सकते हैं या केवल व्यक्तिगत। इनके द्वारा चीजों की एक-दूसरे से तुलना की जाती है और एक-दूसरे की तुलना में उचित-अनुचित, अच्छा या बुरा, ठीक या गलत माना जाता है।<sup>4</sup>
6. मूल्य महत्त्व के बारे में निर्णय के मानदण्ड तथा नियम हैं। ये वे मानदण्ड होते हैं, जिनके आधार पर हम वस्तुओं, विचारों, क्रियाओं तथा परिस्थितियों के अच्छा, महत्त्वपूर्ण एवं वांछनीय होने अथवा खराब, महत्त्वहीन एवं तिरस्करणीय होने के विषय में निर्णय करते हैं।
7. थामस एवं जेनेनिकी के अनुसार—‘मूल्य वह लक्ष्य है, जिसकी अन्तर्वस्तु तथा अर्थ तक एक सामाजिक समूह के सदस्य पहुँच सकते हैं।’<sup>5</sup>

#### मूल्यों का वर्गीकरण—

मूल्यों के विषय में उपरोक्त अनुशीलन से यह हस्तामलकवत् स्पष्ट है कि मूल्य मानव के व्यवहार के लिए प्रेरणा—स्रोत एवं निर्देशक तत्त्व हैं। ये वे मानक रूपी मानदण्ड हैं, जो मनुष्य को अपने क्रिया—विकल्पों के चयन करते समय स्पष्ट रूप से प्रभावित करते हैं। समाज अथवा मनुष्य के द्वारा विभिन्न तर्कों के आधार पर मूल्यों का निर्धारण किया जाता है, ये उसकी भावनाओं से जुड़े होते हैं तथा उसके गतिविधियों के निर्देशक होते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि तर्कों के बिना मूल्य अन्धे होते हैं, बिना भावनाओं के वे अशक्त होते हैं तथा बिना कार्यों के वे खाली होते हैं। विभिन्न विद्वानों एवं चिन्तकों ने देश, काल एवं परिस्थितियों के आधार पर विविध मूल्यों का निर्धारण किया है तथा उन्हें वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। अमेरिकी शैक्षिक नीति आयोग (1951) के द्वारा शैक्षिक संस्थाओं के लिए निर्धारित मूल्य थे—मानव—व्यक्तित्व के प्रति आदर, व्यक्ति की नैतिक जिम्मेदारी, संस्थाओं का व्यक्ति के अधीन होना, सामान्य सहमति, सत्यनिष्ठा, समानता, भ्रातृत्व, आनन्द की खोज, आध्यात्मिक संवर्धन एवं श्रेष्ठता के प्रति आदर की भावना।<sup>6</sup> इसी प्रकार, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एन0सी0ई0आर0टी0) ने शिक्षा में सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों पर अपने एक दस्तावेज में तिरासी मूल्यों का उल्लेख किया है।<sup>7</sup>

प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा निदेशालय, राजस्थान ने देश के प्रति समर्पित नागरिकों के निर्माण के लिए पाठ्य—पुस्तकों एवं शैक्षिक कार्यक्रमों में जिन जीवन—मूल्यों के प्रतिबिम्बित होने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया था वे हैं— सच्चाई, सहयोग, साहस, परोपकार, देशभक्ति, ईमानदारी, विश्वबन्धुत्व, विनम्रता, अहिंसा, सहानुभूति, प्रेम,

दृढ़निश्चय, क्षमा, मित्रता, सादगी, निर्भीकता, अनुशासन, दान, दया, धैर्य, सहिष्णुता, तत्परता, आत्मविश्वास, कर्तव्यपरायणता, दूसरों का आदर करना, स्वावलम्बन, श्रम में निष्ठा, त्याग की भावना, दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना, समाज-सेवा की भावना, फिजूलखर्ची न करना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना।<sup>8</sup>

मोहम्मद साहब ने मानव जाति के लिए शांति, विनम्रता, दया, स्नेह, क्षमा, उदारता, सादगी, मेहमानदारी, त्याग, विनय, शालीनता, दृढ़ता, साहस, वीरता एवं परिहास आदि मूल्यों के शिक्षण की आवश्यकता को महसूस किया था।<sup>9</sup>

इन सभी मूल्यों का विभिन्न शिक्षाविदों एवं विचारकों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। मानव की मूल प्रवृत्तियों एवं सामान्य प्रवृत्तियों को केन्द्र में रखकर कुछ शिक्षाशास्त्रियों ने मूल्यों को (1.) शारीरिक (2.) आर्थिक (3.) सामाजिक (4.) सौन्दर्यात्मक तथा मनोरंजनात्मक एवं (5.) आध्यात्मिक नामधेय पाँच वर्गों में वर्गीकृत किया है।

प्रसिद्ध विद्वान एच0एस0 ब्राउडी ने मूल्यों को आठ वर्गों में विभाजित किया है। ब्राउडी के द्वारा निर्धारित किये गये मूल्यवर्ग हैं—स्वास्थ्य, शरीर एवं मनोरंजन सम्बन्धी मूल्य, बौद्धिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, नैतिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, सौन्दर्यात्मक मूल्य तथा सांस्थिक मूल्य।<sup>10</sup>

कतिपय अन्य विचारकों के मत में मूल्यों को निम्नांकित वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. आवश्यक मूल्य — इस वर्ग के अन्तर्गत उन मूल्यों को रखा जाता है जो मनुष्य की बुनियादी प्रकृति से सम्बन्धित हैं।
2. व्यक्तिगत मूल्य — वैसे मूल्य जो किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत लाभ अथवा हानि से जुड़े होते हैं उन्हें इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है।
3. सामाजिक मूल्य — समाज के हित एवं अहित से सम्बन्धित मूल्य ही सामाजिक मूल्य हैं।
4. सांस्कृतिक मूल्य — वैसे मूल्य जो संस्कृति की सुरक्षा एवं समृद्धि से सम्बद्ध होते हैं उन्हें इस श्रेणी में रखा जाता है।
5. संस्थागत मूल्य — संस्थागत मूल्य का अभिप्राय राजनैतिक एवं नैतिक मूल्यों से होता है।

मूल्यों के विभिन्न वर्गीकरणों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि कुछ मूल्य वर्ग ऐसे हैं जिन्हें प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकृति प्रदान की है।

### **सामाजिक मूल्य:-**

मनुष्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मनुष्य के बिना समाज का निर्माण सम्भव नहीं है और साथ ही एक सुव्यवस्थित समाज के बिना मनुष्य का विकास भी सम्भव नहीं है। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु बनाये रखने के लिए समाज के सम्पत्ति की रक्षा, पारस्परिक सहयोग, सामाजिक परिवेश में सुधार आदि मूल्यों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

### **सांस्कृतिक मूल्य:-**

प्रत्येक समाज अथवा राष्ट्र की अपनी एक सांस्कृतिक विरासत होती है। एक जिम्मेदार नागरिक से सदैव यह अपेक्षा होती है कि वह गीत, नृत्य, संगीत, वाद्यकला, नाटक, ललितकला एवं स्थापत्यकला आदि के क्षेत्र में अपने संस्कृति के धरोहरों का परिचय प्राप्त करे, उन पर गर्व की भावना रखे तथा उन्हें हमेशा अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास करें।

### **नैतिक मूल्य:-**

नैतिक शब्द नीति से बना है। नीति का अर्थ है 'आगे ले जाना' अथवा 'प्राप्त कराना', अर्थात्, जिस स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर चलकर मनुष्य सुगमतापूर्वक अपने जीवन के चरम लक्ष्यों को प्राप्त कर सके वही नीति है। नीति के मूल्य ही नैतिक मूल्य हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिन आचारों के द्वारा व्यक्ति एवं समाज अपने प्रगति के लक्ष्य को समेकित रूप से प्राप्त कर सकते हैं उन आचारों को व्यवहार में प्रतिष्ठित करना ही नैतिक मूल्य कहलाते हैं।

कालान्तर में नैतिक मूल्यों का अभिप्राय प्रायः चारित्रिक मूल्यों से किया जाने लगा, जिनमें व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन के मूल्य सन्निहित हैं। भारत जैसे धर्मप्राण देश में शास्त्रकारों ने पग-पग पर नैतिक मूल्यों का न केवल प्रतिपादन किया है बल्कि, उनके पालन के लिए भी विविध प्रकार से प्रेरित किया है।<sup>11</sup> इन मूल्यों में धैर्य, क्षमा, इन्द्रियों का दमन, चोरी न करना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, विनम्रता, दृढ़ता, सन्तोष, व्यसन न करना एवं दक्षता आदि प्रमुख हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा में इन्हें केवल सुखदायक ही नहीं माना गया है अपितु, इनको धर्म के रूप में भी मान्यता प्रदान की गई है।

### **बौद्धिक मूल्य:-**

बौद्धिक मूल्य से तात्पर्य उन मूल्यों से है जो ज्ञानवर्धन में सहायक होते हैं। किसी भी मनुष्य के बौद्धिक विकास के लिए इन गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इनमें जिज्ञासा, रचनात्मक साहित्य में रुचि एवं साहित्य-सृजन का भाव प्रमुख है।

### **आध्यात्मिक मूल्य:-**

अनेक विद्वानों ने जीवन का परम लक्ष्य आत्मानुभूति को माना है। भारतीय चिन्तन परम्परा में भी इसे परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है। इस

आत्मानुभूति की अवाप्ति में जो गुण अथवा तत्त्व सहायक होते हैं, उनके प्रति आस्था की भावना ही आध्यात्मिक मूल्य का तात्पर्यार्थ है। इन मूल्यों में प्रमुख हैं:—दूसरों के प्रति प्रेम एवं हितसाधन की भावना, सेवा-भाव, मनसा, वाचा एवं कर्मणा हिंसा का परित्याग एवं परमेश्वर के प्रति गहन आस्था रखना।

#### राष्ट्रीय मूल्य:—

किसी भी राष्ट्र के निर्माण के लिए भूमि और उस पर निवास करने वाले जन की ही आवश्यकता नहीं होती है, वरन् एक सशक्त राष्ट्रीय भावना की भी उतनी ही दरकार होती है। जब जन के अन्दर यह भाव सशक्त रूप में जागृत होता है कि 'माता भूमि: पुत्रोऽहम् पृथिव्याः'<sup>13</sup> (यह भूमि मेरी माता है तथा मैं इस भूमि का पुत्र हूँ) तब एक राष्ट्र का उद्भव होता है। राष्ट्र के हित-चिन्तन की भावना, नागरिकों में परस्पर एकता एवं समन्वय की भावना, राष्ट्र के लिए निज स्वार्थों का बलिदान करना आदि राष्ट्रीय मूल्य किसी भी राष्ट्र को सबल एवं समृद्ध बनाने में सहायक होते हैं।

वस्तुतः मूल्य मानवता के अलंकारभूत तत्त्व हैं। इन मूल्यों की अवधारणा एवं वर्गीकरण के विषय में विद्वानों में यद्यपि किञ्चित् पारस्परिक विभेद है तथापि यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि ये मूल्य गन्धी के गन्ध के समान हैं जो मानव सभ्यता को हमेशा से सुवासित करते आये हैं। किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के उत्थान में इन मूल्यों का योगदान अमूल्य होता है।

#### सन्दर्भ संकेत :

1. आक्सफोर्ड अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश, पृ०-1115
2. मोहन, शैक्षिक मनोविज्ञान (1993)
3. विकास एवं अधिगम का मनोविज्ञान, इ०गा०रा०मु०वि०, पृ०-35
4. चौधरी, जगदीश. शिक्षाशास्त्र, अवध प्रकाशन, पृ०-145
5. वही, पृ०-146
6. State School Administration, Harper & Brother, New York, P. 46
7. N.C.E.R.T., A Series for Teachers, Publication No.-3, P. 35-36
8. प्राथमिक माध्यमिक शिक्षा निदेशालय, नैतिक शिक्षा उपागम, बीकानेर, राजस्थान, पृ०-46
9. चौधरी, जगदीश, शिक्षाशास्त्र, अवध प्रकाशन, पृ०-146
10. विकास एवं अधिगम का मनोविज्ञान, इ०गा०रा०मु०वि०, पृ०-37
11. दमः क्षमा धृतिस्तेज ..... चेति सुखावहाः। महाभारत (भीष्मपर्व)
12. सर्वलक्षणहीनोऽपि ..... शतं वर्षाणि जीवति। मनुस्मृति।
13. पृथ्वी सूक्त, अथर्ववेद, शौनक संहिता, 12वां सूक्त ।

\*\*\*\*\*

## अनुप्रयोगात्मक मूल्य

प्रताप निर्भय सिंह\*

वर्तमान भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। एक ओर प्रतिदिन के समाचार-पत्रों, मीडिया की रिपोर्टों से भारतीय समाज में बढ़ते भ्रष्टाचार, नैतिक पतन, मानसिक प्रदूषण का चित्रण दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर जागरूक होता जा रहा युवा वर्ग, राष्ट्र एवं समाज की सेवा में निरन्तर कर्तव्यभाव से जुटी हुई संस्थाएँ एवं व्यक्ति एक नये बदलाव की ओर संकेत कर रहे हैं। वैसे तो ऐतिहासिक दृष्टि से हमारी सोच सदैव दो ध्रुवों में विभाजित रही है। धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, मानवीयता-अमानवीयता आदि नामों से हम इसे अभिहित करते हैं। विश्व में इनका सदैव अस्तित्व बने रहने से गतिशीलता रहती है। सज्जन इस संसार चक्र में सुपथ को धारण कर स्वयं का और अनेकों का जीवन सफल करते हैं। दुर्जन उनके मार्ग में व्यवधान उत्पन्न कर स्वयं को पतित करने में सुख का अनुभव करते हैं। जीवन का सबसे बड़ा मूल्य जीवन स्वयं है। अन्य मूल्य तो साधन मूल्य हैं। परम साध्य मूल्य जीवन को साधना है। इसे ज्ञानी जन जीने की कला, जीवन साधना अथवा जीवन कर्तव्य, जीवन-धर्म आदि शब्दों से अभिव्यक्त करते हैं। भारतीय संस्कृति का विश्व की अनेक संस्कृतियों में उच्च स्थान होने का कारण मानव जीवन को समृद्ध करने की इसकी अनूठी सामर्थ्य ही है। यह वह जीवनी शक्ति है जो समय-समय पर महापुरुषों के रूप में देखने को मिलती है। अस्तु यदि हमें मूल्य को समझना है तो मूल्य की अवधारणा से बाहर आकर उसे जीवन में धारण करना जानना चाहिए। उसे जीवन में स्वीकार कर प्रत्यक्ष रूप में उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिए। मनुष्य के जीवन रूपी मन्दिर में जीवन ज्योति रूपी परम मूल्य एवं जीवन को नैतिक रूप से उन्नत करने वाले साधन मूल्यों की प्राण-प्रतिष्ठा करने का दायित्व शिक्षा प्रणाली का है। शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में हम सामाजिक मूल्यों, आर्थिक मूल्यों, राष्ट्रीय मूल्यों, राजनैतिक मूल्यों एवं मानवीय मूल्यों का पोषण ही तो करते हैं। यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि जिस भारतवर्ष ने एकदा विश्वगुरुपद को धारण कर सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शन किया, आज उसी भूमि की संतति विश्व के समक्ष याचक की भूमिका में दिखाई पड़ती है। हमारा युवा, हमारे राजनेता, हमारा समाज तन्त्र मानो स्वयं को दीन-हीन मानकर पाश्चात्य मूल्यों को, जो आर्थिक पृष्ठभूमि अथवा भोग विलासयुक्त जीवनशैली का प्रतिवेदन करते हैं, की ओर आकृष्ट हैं। भारतीय जीवन मूल्यों की अपेक्षा पाश्चात्य जीवन मूल्यों की चकाचौंध उन्हें अपना अन्धानुकरण करने को आकर्षित करती है।

इसका दोष हमारे शिक्षा तन्त्र में है। पारिवारिक वातावरण में दी जाने वाली अनौपचारिक शिक्षा एवं विद्यालयों में दी जाने वाली औपचारिक शिक्षा दोनों में मूल्यों के

प्रति उदासीनता का दुष्परिणाम हम विभिन्न सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों एवं भ्रष्ट आचरण के रूप में देख रहे हैं। राष्ट्र एवं समाज के चिन्तन से परे हमारे तथाकथित सभ्रान्त युवा क्लब संस्कृति के नवदूत बनने में गौरव अनुभव करते हैं। विदेशी ब्राँडों की वस्तुओं एवं वस्त्रों का उपयोग उनमें राष्ट्रीय स्वाभिमान के प्रति संवेदना के अभाव की पुष्टि करता है। राष्ट्रीय महापुरुषों के प्रति अल्पज्ञान तथा विदेशी चरित्रों, जो कदाचित् चरित्रवान भी न हों, के प्रति आकर्षण हमारे युवा तो युवा, वरिष्ठ राजनीतिज्ञों एवं तथाकथित समाज के कुलीन कहे जाने वाले प्रबुद्ध वर्गों में भी मिलता है।

वर्तमान में उत्तर प्रदेश तकनीकी विश्वविद्यालय के 'मानवीय मूल्य एवं व्यवसायिक आचारशास्त्र' पाठ्यक्रम को एक सकारात्मक पहल के रूप में देखकर मन में हर्ष होता है। देर से ही सही किन्तु कुछ कर्मठ एवं निरन्तर श्रमशील सज्जनों के प्रयासों से मूल्य शिक्षा तकनीकी शिक्षा से सम्बद्ध हुई।

विद्यार्थी वर्ग प्रायः इस विषय को एक अतिरिक्त अधिभार के रूप में ग्रहण कर रहा है। ऐसे में इस विषय के अध्यापक का यह विशेष दायित्व है कि वह बालकों में उक्त विषय की गरिमा एवं मानव जीवन से उसका अटूट सम्बन्ध यांत्रिक अनुप्रयोगात्मक रूप से प्रकट करे। ऐसा करने हेतु 'आचार्य' शब्द के भाव से कार्य करना होगा। आचार्य अर्थात् जिसके आचरण से सीखा जा सके। यदि हम समाज में मूल्यों की स्थापना करने में सहयोग करना चाहते हैं तो हमें स्वयं को आचार्य के रूप में विकसित करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्यक्षेत्र में शिष्ट एवं मूल्यों द्वारा पोषित आचरण से अपने आसपास के लोगों को प्रेरणा देने का कार्य कर आचार्य हो सकता है। शास्त्रों में वर्णित कर्तव्यनिष्ठता का सिद्धान्त यही है। एक अध्यापक, कर्तव्यभाव से शिक्षण करे, वकील कर्तव्यभाव से वकालत करे तो मूल्य का स्वरूप दर्शनशास्त्र की विश्लेषणात्मक अन्वेषण सीमा से बाहर आकर अनुप्रयोगात्मक बन सकता है। विश्व के जिन महापुरुषों का नाम हम सम्मान से लेते हैं उनका जीवन कर्तव्य एवं मूल्यनिष्ठा से परिपूर्ण था। वर्तमान युग में हमने शिक्षा तन्त्र को आर्थिक तन्त्र बनाने की भूल की है। व्यावसायिक शिक्षा की आड़ में हमने शिक्षा को व्यावसायिक तन्त्र बना डाला है और शायद यही कारण है कि हमारे उच्च शिक्षण संस्थानों से श्रेष्ठ प्रौद्योगिकीविद् तो निर्मित हो रहे हैं किन्तु देश के सुसंस्कृत नागरिक एवं श्रेष्ठ मानव का अपेक्षित निर्माण करने में हम असफल हैं।

मिट्टी जब गीली और नरम हो तो उसे कोई भी आकार दिया जा सकता है किन्तु जो मिट्टी एक साँचे में ढलकर पक चुकी हो उसे किसी अन्य आकार में ढालना दुसाध्य है। मूल्य शिक्षा को उच्च शिक्षा में प्रवेश कराना एक प्रशंसनीय कदम है; किन्तु यदि हम प्राथमिक शिक्षा में सर्वाधिक महत्त्व मूल्यों को, राष्ट्रीय संस्कृति को और भाषा अभिव्यक्ति, कला, शिल्प सृजन को दे सकें तो यह अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। हमारे देश



के अनेक महापुरुषों ने बालमनोविज्ञान का अध्ययन कर बालक की 10 वर्ष तक की अवस्था को जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था माना है। यह वह अवस्था है जिसमें बालक का सम्पूर्ण भविष्य एक बीज रूप में संचित किया जा सकता है और इसके बाद शनैः शनैः अंकुरित होते-होते वृक्ष बनने की ओर अग्रसर होता है। यदि हमने इस अवस्था में उसमें सृजनशीलता एवं सकारात्मक मूल्य विमर्श की सामर्थ्य विकसित नहीं की तो बाद में उससे इसकी अपेक्षा करना निरर्थक है।

हास्यास्पद बात तो यह है कि जहाँ प्राथमिक शिक्षा जीवन का आधार है, जीवन की मूल प्रवृत्ति की प्रेरक शक्ति है, पर हमारे देश में शिक्षा के इस स्तर की स्थिति सर्वाधिक दयनीय है। आजादी के वर्षों बाद भी प्राथमिक शिक्षा का अधिकार प्रत्येक बालक को देने में हम शायद सफल नहीं हुए हैं।

मनोविज्ञान की आधुनिक खोजों के अनुसार बाल्यावस्था में मनुष्य को दिशा देना अत्यन्त संवेदनशील एवं चुनौती भरा कार्य है। इसमें विशेषज्ञ अध्यापकों की महती भूमिका है, कुछ देशों में तो प्राथमिक अध्यापकों का चयन एवं उनका प्रशिक्षण विशिष्ट कोटि का है और वेतन भी उच्च शिक्षातन्त्र के शिक्षकों से अधिक है क्योंकि उनका कार्य विशिष्ट रूप में एक बालक को राष्ट्र, समाज एवं उसके स्वयं के कल्याण साधन के रूप में विकसित करना है। हमारे देश में भी प्राथमिक शिक्षा तन्त्र को बाल मनोविज्ञान की नई तकनीकों एवं विधाओं से युक्त विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त विशेष शिक्षकों की आवश्यकता है और निःसन्देह अभी मूल्य शिक्षा को प्राथमिक स्तर पर उसी प्रकार से संयोजित करने की आवश्यकता है जैसे वह गुरुकुल प्रणाली में नैतिक शिक्षा के रूप में प्रचलित थी। गुरु का आचरण, महापुरुषों के जीवन प्रसंगों का मनन-चिंतन, व्यवहारिक दैनिक जीवन में सदाचारी सज्जनों का सम्मान हमें फिर से प्रतिष्ठित करना होगा। भ्रष्ट आचरण वाले कतिपय अध्यापकों, लोभ, लालच से परिपूर्ण शिक्षा व्यवसायियों तथा दुर्जनों के सामाजिक बहिष्कार से ही मूल्यों की व्यवहारिक स्थापना सम्भव है। हम बालक को शुद्ध आचरण का पाठ पढ़ाएँ एवं स्वयं दुष्प्रवृत्तियों के दास हों, नैतिक रूप से पतित हों किन्तु सदाचरण का मुखौटा धारण कर सम्मान पाते हों, तो हमारा समाज तो मूल्यविहीन होगा ही। पुस्तकों एवं विचार गोष्ठियों में सज्जनों का उत्कर्ष करते हों, धर्म, नीति एवं सत्य की जय-जयकार करते हों किन्तु व्यवहारिक जीवन में हमारे परिचितों की दृष्टि में हम अधर्म, अनीति एवं असत्य आचरण के अनुयायी हैं तो कैसे हम मानवीय मूल्यों की संरक्षा करेंगे। जब बालक बचपन से देखता है कि धनी का सम्मान निर्धन से अधिक है, सज्जन के समक्ष दुर्जन शक्तिशाली है, भ्रष्ट व्यक्ति सुखों को भोगता है और सामाजिक सम्मान भी पाता है तो हम कैसे उस बालक को रोक पायेंगे कि वह धन के पीछे न भागे, स्वयं दुर्जन पथ का अनुसरण न करे, भ्रष्ट आचरण से

सम्पत्ति अर्जित न करे। केवल एक ही मार्ग है और वह है बालमन में ही उसे अच्छे संस्कार देना, अपने आसपास मूल्यों की प्रतिष्ठा करना, शुद्ध शिष्ट आचरण करना और अशिष्ट आचरण करने वालों का सामाजिक बहिष्कार करना। मन्दिर, मस्जिद एवं अन्य धार्मिक केन्द्रों की एवं सामाजिक न्यास द्वारा संचालित शिक्षण केन्द्रों की इसमें महती भूमिका है। यदि हम साम्प्रदायिक एवं भ्रमित धर्म को प्रश्रय देने के स्थान पर मानवीय मूल्यों के विकास में इन संस्थाओं को अधिकाधिक सक्रिय कर सकेंगे तो निःसन्देह रूप से यह एक महान कार्य होगा और ऐसा सभी कर सकते हैं। एकल उदाहरण के रूप में गाजियाबाद के राज वर्मा जी ने पर्यावरण के सबसे खतरनाक शत्रु पॉलीथिन के उपयोग को रोकने की पहल की और स्वयं के प्रयास से 5 वर्षों में 5 लाख कपड़े एवं कागज के बैग विभिन्न शोरूमों को आपूर्ति की। इससे अनेक निर्धन परिवारों को रोजगार देने का कार्य भी उनके द्वारा सम्पन्न हुआ।

यह सामाजिक मूल्य के अनुप्रयोग का एक अच्छा उदाहरण है। हम अच्छी व श्रेष्ठ पत्रिकाओं की सदस्यता प्राप्त कराने में, खाने-पीने के ठेलों के पास प्रतिदिन कचरे का ढ़म रखने व अगले दिन उसे उठाने में, पॉलीथिन से अवरुद्ध नालों की सफाई, टूटी सड़कों की मरम्मत, क्षमतानुसार निर्धन बालकों की शिक्षा की व्यवस्था, गरीब बस्तियों में निःशुल्क चिकित्सा एवं शिक्षा शिविरों का आयोजन आदि जैसे अनेक कार्य कर अनुप्रयोगात्मक मूल्यों की प्रतिष्ठा अपने-अपने क्षेत्रों में कर सकते हैं। जो संस्थाएँ ऐसे उत्तम कार्य में संलग्न हैं उन्हें सहयोग कर उन्हें पुष्ट करें तो निःसन्देह हमारे समाज में क्रान्तिकारी रूपान्तरण होगा। बाबा रामदेव का भारत स्वाभिमान आन्दोलन राष्ट्रीय मूल्य संवर्धन का एक सराहनीय उदाहरण है जिसने कुछ ही वर्षों में राष्ट्रीय जागरण की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

अस्तु अन्त में यह कहना पर्याप्त है कि हम मानव जीवन की गरिमा, उसकी अनुपम सौन्दर्य मूल्य आभा को जीवंत रखें, उसके लिये प्रयास करें, परस्पर सहयोग करें, तभी हम सच्चे मूल्य उपासक बन सकते हैं और समाज कल्याण के साथ-साथ जीवन के परम मूल्य आत्म साक्षात्कार यथा मोक्ष के अधिकारी बन सकते हैं।

\*\*\*\*

## शैक्षिक जागरूकता : समाजशास्त्रीय परिदृश्य

विजय आनन्द\*

शिक्षा एक अत्यन्त जटिल और व्यापक प्रक्रिया है। प्रभाव व परिणाम की दृष्टि से शिक्षा की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। व्यक्ति, समाज और संस्कृति तीनों से ही शिक्षा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष और प्रारम्भिक है। प्रत्येक व्यवस्था का स्थायित्व, निरन्तरता, विकास और गतिशीलता शिक्षा से निकट रूप से सम्बन्धित है। शिक्षा की इन विभिन्न भूमिकाओं के कारण शिक्षा का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। शिक्षा समाजशास्त्र अध्ययन का स्वतन्त्र उपागम है जो शैक्षणिक प्रक्रिया को एक अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया मानकर व्यक्तित्व निर्माण, सामाजिक आर्थिक गतिशीलता में वृद्धि, सामाजिक पुनर्निर्माण इत्यादि क्षेत्रों में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण भूमिका की विवेचना करता है।

शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त व्यापक होते हैं, क्योंकि यह वह प्रक्रिया है जो समाज में निरन्तर चलती रहती है तथा इसके माध्यम से नागरिक उत्तरदायित्वों, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का हस्तान्तरण समाज के नवीन पीढ़ी के सदस्यों में किया जाता है। अतः व्यापक अर्थों में आचार-विचार, व्यवहार के तरीके, व्यापक मूल्य और आदर्श नवीन पीढ़ी के द्वारा ग्रहण करने की प्रक्रिया ही शिक्षा है। शिक्षा के सामाजिक पक्ष पर बल देते हुए समाजशास्त्री 'दुर्खीम' ने स्पष्ट किया है कि शिक्षा प्रौढ़ पीढ़ी का वह प्रभाव है, जो उस नवीन पीढ़ी पर लागू किया जाता है, जो सामाजिक जीवन के लिए अभी तैयार नहीं है। इसका लक्ष्य बालक में ऐसे शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास करना है जो उसकी राजनीतिक व्यवस्था तथा उस सामाजिक परिवेश के अनुरूप होता है। जिसमें उसे एक निश्चित पद प्राप्त होता है।<sup>1</sup>

इस प्रकार दुर्खीम ने शिक्षा को मूलरूप से व्यक्ति और समूह के मध्य एक अन्तःक्रिया माना है। इसी प्रकार 'क्रो और क्रो' ने शिक्षा को ऐसा गतिशील प्रेरक माना है जो प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक, सामाजिक, नैतिक विकास, आर्थिक निपुणता एवं नागरिक उत्तरदायित्वों के लक्ष्य निर्धारण को प्रभावित करती है।<sup>2</sup>

इसी तरह से कार्टर वी वुड ने शिक्षा को एक ऐसी प्रक्रिया माना है जिसके द्वारा व्यक्ति अनुभव या सूचना प्राप्त करता है। उनके अनुसार "शिक्षा उन सभी प्रक्रियाओं का नाम है जिसके द्वारा व्यक्ति ऐसी क्षमता, मनोवृत्ति और व्यवहार के तरीकों को ग्रहण करता है जो व्यक्ति के सामाजिक जीवन में व्यवहारिक महत्त्व रखता है। औपचारिक रूप से शिक्षा वह प्रक्रिया है जो नियन्त्रित और विशिष्ट पर्यावरण में व्यक्तिगत और सामाजिक क्षमता के विकास का अधिकतम अवसर प्रदान करती है।"

---

\*वरिष्ठ शोध अध्येता, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

समाजशास्त्रीय शिक्षा को समाज की विभिन्न उपव्यवस्था के अन्तर्गत घटित होने वाली अन्तःक्रिया की विवेचना के साथ-साथ यह भी दर्शाया जा सकता है कि शिक्षा का वृहद सामाजिक व्यवस्था के साथ पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। एस0एन0 मुखर्जी के अनुसार शिक्षा संचित ज्ञान और साहित्य में सन्निहित सामाजिक मूल्य संरचना के अनुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित करती है। यह व्यक्ति को इस प्रकार की कुशलता का प्रशिक्षण देती है तथा ऐसी योग्यताओं और क्षमताओं से विभूषित करती है कि वह विशिष्ट और विभेदीकृत परिस्थिति में अपनी भूमिकाओं का उचित ढंग से निर्वाह कर सकें जिसके द्वारा समकालीन समाज में व्यक्ति और समूह के पद का निर्धारण होता है। सामाजिक पद को गतिशीलता का निर्धारण कर एक महत्त्वपूर्ण सूचांक शिक्षा है।<sup>3</sup>

सामाजीकरण के प्रतीतिक अन्तःक्रियात्मक सिद्धान्त का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति और सामाजिक परिस्थिति की पारस्परिक अन्तःक्रिया है जिसके माध्यम से समाज के मूल्यों और दशाओं का व्यक्तित्व में आन्तरीकरण किया जाता है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति और सामाजिक परिस्थिति अथवा संस्कृति को समान महत्त्व देता है। सामाजीकरण मानव का एक विशेषाधिकार है जो उसके विशिष्ट 'जैविकीय मानवीय विशेषताओं' के द्वारा संभव होता है।<sup>4, 5</sup>

सामाजीकरण की प्रक्रिया का प्रत्येक चरण भूमिका की प्रक्रिया की ओर बढ़ता हुआ कदम है। शिक्षा द्वितीयक सामाजीकरण की प्रक्रिया है जो अर्जित आवश्यकताओं से सम्बन्धित भूमिका ग्रहण का प्रशिक्षण प्रदान करती है। औपचारिक शिक्षा समाज द्वारा निर्दिष्ट मूल्यों और आदतों के अनुरूप व्यक्ति को नवीन भूमिकाओं को ग्रहण करने का प्रशिक्षण प्रदान करती है। शिक्षण संस्था के नियन्त्रित वातावरण में व्यक्ति अनुकरण, निर्देश, दण्ड, पुरस्कार इत्यादि प्रक्रियाओं के माध्यम से नवीन भूमिकाओं को ग्रहण करता सीखता है। औपचारिक शिक्षा न केवल सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों के प्रत्यारोपण का कार्य करती है बल्कि इसके द्वारा व्यक्ति की अभियोजनाशीलता में वृद्धि होती है और व्यक्ति गतिशीलता तथा नवीनता को ग्रहण करने के योग्य बनाता है।<sup>6</sup>

इस प्रकार शिक्षित व्यक्ति अपनी शैक्षणिक उपलब्धियों परिवेश के उन तथ्यों को पहचानता है जो जाने-अनजाने में उसके सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। शैक्षिक जागरूकता व्यक्ति के पास उपलब्ध सूचनाओं का वह संग्रह है जिसका चरित्र तथ्यात्मक तथा जो शैक्षिक प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं, संगठनों तथा जानकारीयों से सम्बन्धित है। शैक्षिक रूप से जागरूक व्यक्ति ज्ञान संकलन के माध्यम से स्वतः परिवर्तित होकर समाज को परिवर्तित करता है क्योंकि सामाजिक परिवर्तनों में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

संदर्भ :

1. Durkheim, E, "Education and sociology", The Free Press Glance, Illinois, 1959.
2. Crow, L.F. and Crow, A., "Introduction to Education, Printed in U.S.A., Roronto, Chieago Bosten", 1955.
3. Mukherji, S.N. "Education in India Today and Tomorrow", Anand Press, Baroda, 1957.
4. Parsons, Tolcott, "The social system", Free Press, Glenco, 1951.
5. Parsons Bals, "Family Socialization and Interaction, Process", Free Press, Glenco, 1960.
6. Singh, Yogendra, "The Press of Socialization and Education", Published Paper in Sociology in Education in India, N.C.E.R.T., Delhi, 1967.

\*\*\*\*\*

## नैतिकता : विविध आयाम

प्रीति सिंह\*

भारतीय चिन्तन में अलग से एक नीतिशास्त्र का होना नैतिकता के महत्त्व को स्थापित करता है। नैतिकता के सामान्य अर्थ में सदाचार, विवेक, सत्य, अहिंसा, करुणा, त्याग, परोपकार इत्यादि सद्गुणों का समावेश होता है। 'गीता' में निम्नलिखित सद्गुणों का उल्लेख किया गया है :-

अभयं सत्त्वंशुद्धिर्ज्ञानियोग वयवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ 1

अहिंसा सत्ययक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्।

दयाभृतेषुलोलुप्तवं मादृद्वं हीरचापलम्॥ 2

तेजः क्षमा धृतिर्शौचमद्रोहो नातिमर्निता।

भवन्ति सम्पदं दैवीय भिजातस्य भारत॥ 3

वस्तुतः नीतिशास्त्र के अंतर्गत नैतिक जीवन के आंतरिक, बाह्य, नैसर्गिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि सभी पक्ष शामिल हो जाते हैं। नीतिशास्त्र का मूल उद्देश्य मनुष्य की विवेक शक्ति को ऐसे जागृत करना है कि उसमें पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, अच्छे-बुरे में न केवल भेद करने की क्षमता आ जाए, बल्कि वह पाप, असत्य एवं बुरे कार्यों से विमुख भी हो। इसी संदर्भ में बेवस्टर शब्दकोष में नैतिकता की परिभाषा देते हुये लिखा है—“नैतिकता किसी कार्य का गुण है, जो किसी ईश्वरीय विधि के सिद्धांतों के अनुरूप होने को ठीक और सही समझता है।”

20वीं सदी में नैतिकता को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रमुखता से जोड़ने वाले महान व्यक्तित्व महात्मा गांधी ने 'इथिकल रिलीजन' में लिखा है —

“उच्चतम नैतिक नियम यह है कि हम सतत् मानव कल्याण के लिये काम करते रहें। यदि हम एक बार इस जीवन्त सत्य को पा लेते हैं, तब नैतिकता से जुड़े हुये अन्य सभी सिद्धांत हमारे सामने स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं।”

इसे और स्पष्ट करते हुये महात्मा गांधी ने 'हरिजन' पत्र में लिखा —

“नैतिकता की जड़ें हमारे हृदय की पवित्रता में होती हैं।”

इसमें कोई संदेह नहीं कि नैतिकता का सीधा संबंध व्यक्ति के आचरण से होता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि आदिम जीवन के बाद व्यक्ति जैसे-जैसे सभ्यता व संस्कृति से परिचित होने लगा, वैसे-वैसे उसने स्वयं और समाज दोनों को नियंत्रित करने के लिये कुछ नियम बनाए। ये ही नियम पहले धर्म के रूप में जाने जाते थे। इसीलिए हमारे धार्मिक ग्रंथ मूलतः रहस्यमयी, वायवीय, मिथकीय घटनाओं तथा वचनों के माध्यम से मूलतः हमारे सामने आचार संहिता ही प्रस्तुत करते हैं—यहां तक कि

लौकिक साहित्य के रूप में पंचतंत्र की कथाएं भी सामाजिक व्यवहार के लिये आदर्श प्रस्तुत करती हैं। दूसरे के लिये त्याग करना, प्रेम करना, करुणा की भावना रखना इत्यादि निश्चित रूप से नैतिकता के शाश्वत मूल्यों के अंतर्गत आते हैं, क्योंकि इनका संबंध हमारे जीवन, व्यवहार एवं चरित्र के उन अंतर्निहित गुणों से होता है, जो स्वयं के लिए आवश्यक है। साथ ही वे ही ये तत्त्व हैं, जो उसे पशु की श्रेणी से उठाकर मनुष्य बनाते हैं।

लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि नैतिकता समाज सापेक्ष भी होती है। इसमें समय के अनुसार परिवर्तन आता रहता है। सच तो यह है कि शाश्वत नैतिकता एवं अनैतिकता की बहस सदियों से चली आ रही है। नैतिकता का धार्मिक पक्ष जहां यथा-स्थिति को बनाए रखना चाहता है, वहीं परिस्थितियों के अनुसार समाज अपने मूल्यों को बदलना चाहता है। इस प्रकार एक ही समय में यथास्थितिवादी एवं मनुवादी नैतिकता में जबरदस्त द्वन्द्व की स्थिति आ जाती है।

इतिहास में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि जो समाज परिस्थितियों और परिवर्तन के अनुसार अपनी नैतिकता को निर्धारित करने में जितना अधिक तत्पर रहता है, वह समाज उतना ही अधिक शक्तिशाली, गतिशील और समृद्ध दिखाई देता है। कीन (1887) के अनुसार हम अपने ही देश में यह देखते हैं कि समाज की कुछ जातियां जिन्होंने समय के अनुकूल स्वयं को परिवर्तित किया है, काफी अधिक समृद्ध हैं; जबकि कुछ जातियां मध्यकालीन मूल्यों से जुड़े रहने के कारण पिछड़ा जीवन जी रही हैं।

जहां तक भारतीय समाज का प्रश्न है, बहुधर्मों एवं बहुजातीय होने के कारण यहां के विभिन्न धर्मों और जातियों की परम्परागत नैतिकताएं एक दूसरे से आपस में टकराती हैं। एक जाति समूह जिस व्यवहार और विचार को स्वीकार्य मानता है, वही दूसरी जाति के लिये अस्वीकार्य होता है। वस्तुतः ऐसा इसलिए होता है कि ये सभी समूह नैतिकता की व्याख्या अपने हित और अहित के अनुसार करते हैं और निश्चित रूप से जिस समाज में नैतिकता के विविध एवं विरोधी मूल्य होंगे, उस समाज की राष्ट्रीय भावना को उतना ही अधिक खतरा होगा। इस दृष्टि से आवश्यक है कि परम्परा, रीति-रिवाज तथा नैतिकता को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाए। सौभाग्य से हमारे यहां ऐसा ही किया गया है। भारतीय संविधान को भारतीय समाज के लिये नई एवं आधुनिक नैतिकता की खोज का प्रयास कहें तो वह बहुत गलत नहीं होगा। हमारा संविधान परम्परागत मान्यताओं के साथ नागरिकों के लिये एक नई विधि स्थापित करता है। वहीं विभिन्न वर्गों के बीच समन्वय और समानता की एक नागरिक संहिता भी तय करता है।

परंतु इन सबके बावजूद भी वर्तमान समाज में नैतिकता के सामने अनेक दबाव और चुनौतियां उठ खड़ी हुई हैं। ये चुनौतियां मूल रूप से पारिवारिक बिखराव, उपभोक्तावादी जीवन मूल्यों की वृद्धि तथा नित नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण सामने आई हैं। संयुक्त परिवार ही नहीं दाम्पत्य जीवन भी विघटन के कगार पर है। सीमित स्रोत में अनन्त उपभोग के कारण 'जियो और जीने दो' की प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। सामाजिक नायकों के चरित्र के तथ्यों का विमोचन एवं मीडिया क्रांति का दबाव पूरा भारतीय समाज महसूस कर रहा है।

भारतीय चिंतन में हमेशा से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात समाहित रही है। विज्ञान के आविष्कार एवं बाजार इसे सिद्ध कर रहे हैं। सूचना एवं सम्प्रेषण के कारण एक नई विश्व संस्कृति का जन्म हो रहा है। ऐसी स्थिति में विश्व स्तर पर नैतिकता के नये प्रतिमान उभर रहे हैं। 'मानवाधिकार' भी इसी प्रकार का एक नया प्रतिमान है; सामाजिक न्याय का नया संस्करण है जो पूर्णतः मानवतावादी एवं प्रगतिवादी विचारों पर आधारित है।

लेकिन इस सार्वभौमिक नैतिकता का एक नकारात्मक पक्ष भी है विश्व संस्कृति के नाम पर उपभोक्ता संस्कृति का प्रसार होता जा रहा है जिसने परम्परावादी देशों की नैतिकता के समक्ष एक नई चुनौती खड़ी कर दी है। इसके कारण जहां वे एक ओर अपने सांस्कृतिक मूल्यों से कट रहे हैं वहीं दूसरी ओर मूल्य विहीनता को ही जीवन मूल्य मानकर तेजी से अपनाते जा रहे हैं। यह एक प्रकार से अनैतिक आचरण को ही नैतिक मानने का प्रयास है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि विश्व संस्कृति के उतने ही पक्ष को अपनी नैतिकता के प्रतिमानों में शामिल किया जाय, जहां तक वे हमें जड़विहीन एवं कुसंस्कृत नहीं बनाते। नैतिकता के नये प्रतिमानों को अपनी संस्कृति और जीवन मूल्यों के संदर्भ में ही स्वीकार किया जाना चाहिये। अन्यथा एक ऐसा समय आने में देर नहीं है, जब नैतिकता और अनैतिकता में कोई अंतर ही नहीं रह जायेगा।

#### संदर्भ :-

1. गीता, अध्याय 16 श्लोक 1-3
2. Gandhi, M.K. 'Ethical religion' published in Indian Opinion paper (1907)
3. गांधी, एम.के. 'हरिजन' पत्र, 8 जून, 1940
4. Keene, H.G. The fall of Mughal Empire, Oxford, p.23, (1887)
5. Webster, Merriam. Dictionary

\*\*\*\*



## मानवीय मूल्यों में प्रकृति की अर्थवत्ता

कुमार वरुण\*

नित्यानन्द सिंह\*\*

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे  
पुरुषं दर्शतं विश्वलक्षणम्।  
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन्  
भुवन अर्पितानि।।<sup>1</sup>

“मनीषियों ने इस संसार को आच्छादित करने वाले जल, वायु और प्राणतत्त्व (औषधीय वनस्पति) को निर्वाह के लिए नाना प्रकार के कार्यों में संलग्न किया है। प्रत्येक अनेक रूपों से युक्त है, अद्भुत एवं सबके दर्शन योग्य है।”

यह संसार तीन तत्त्वों से घिरा हुआ है। ये हैं—जल, वायु और वनस्पतियाँ। ये तीनों संसार को जीवनशक्ति प्रदान करने वाले प्राणतत्त्व हैं। इनके बिना जीवनशक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इनके दर्शन से मन प्रफुल्लित हो जाता है और सारे विकार तिरोहित हो जाते हैं। भारतीय धर्मशास्त्र में “मूल्य” की अवधारणा को व्यापक महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः मूल्य एक प्रकार का मानक है। मनुष्य को किसी वस्तु, क्रिया, संस्कार और सदाचार को अपनाने के पूर्व निर्णय करने की क्षमता मूल्य का निर्धारण करता है। यह मूल्य मनुष्य को प्रकृति—प्रेम की ओर खींचता है।

प्राचीन समय में मनुष्य प्राकृतिक संसाधनपूर्ण प्रकृति के साथ संतुलन बनाये हुए शांति से जीवन—यापन करता था। मानवीय आवश्यकताएँ कम थी और उसे वह प्रकृति से सहजता से प्राप्त कर लेता था परंतु बदलते हुए परिवेश में मानव ने अपनी बुद्धि के बल पर प्रगति की और अपनी अतिमहत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते हुए प्रकृति का दोहन करना प्रारंभ कर दिया। मानव के इस क्रांतिकारी विकास का सबसे ज्यादा प्रभाव प्रकृति पर पड़ा। विकास से विनाश का यह दृश्य केवल प्रकृति के दोहन या शोषण के कारण ही उत्पन्न हुआ है। इस संबंध में एंगेल्स ने आगाह किया था कि “प्रकृति पर अपनी मानवीय विजयों के कारण हमें आत्मप्रशंसा में विभोर नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रकृति भी हर ऐसी चीज का हमसे प्रतिशोध लेती है। प्रकृति का प्रतिशोध आज पर्यावरणीय संकट के रूप में प्रकट हो रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों और प्राकृतिक संपदाओं के विनाश के कारण जो पर्यावरणीय परिवर्तन विगत दशकों में दुनिया में हुआ है, उसके कारण आज मानव और अन्य जीव—जन्तुओं के अस्तित्व पर संकट उपस्थित हो गया है।”<sup>2</sup>

मानव प्रकृति की सर्वोत्तम रचना है क्योंकि मानव में ही स्नेह, दया, त्याग,

\* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

\*\* शोध छात्र, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उदारता, संयम आदि गुण विद्यमान होते हैं। नीतिशास्त्रीय दार्शनिक मानव के इन्हीं गुणों को मानवीय मूल्य कहते हैं। इसके साथ ही मानव की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति ने विभिन्न संसाधनों यथा—वायु, जल, भूमि, खनिज, वन आदि को उपलब्ध कराया है। शुद्ध प्राकृतिक वातावरण मानव के मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक, वैयक्तिक पक्ष को प्रभावित कर सकारात्मक परिणाम की ओर अग्रसर कराता है। भारतीय चिंतन परंपरा, प्रकृति से मित्रवत संबंध रखने हेतु प्रेरित करता है, पाश्चात्य चिंतन की तरह प्रकृति विजयी होने का नहीं। यही मित्रता जब श्रद्धा से जुड़ती है तो भारतीय प्रकृति—पूजक बन जाते हैं और पर्यावरण के सुख—दुःख से अपना आत्मीय संबंध स्थापित कर लेते हैं।

प्राचीन समय से ही प्रकृति से मानव का अत्यंत घनिष्ठ संबंध रहा है। इसी कारण मनुष्य को पृथ्वी पुत्र कहा गया है। अथर्ववेद में धरती को माता तथा पृथ्वी को पिता कहा गया है—

**माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या**

**अप्रसन्नो विनाशाय प्रसन्नः सर्वसिद्धये।<sup>3</sup>**

धरती को माता और पृथ्वी को पिता मानते हुए श्रद्धा, सेवा और विश्वास से व्यवहार करने की आज्ञा है। उनकी प्रसन्नता पर मनुष्यों का सब कल्याणसिद्ध है तथा अप्रसन्नता पर विनाश अवश्यम्भावी है। अतः मानव को समर्पण भाव से प्रकृति के साथ मित्रवत व्यवहार कर आवश्यकताओं को कम कर उपभोग करना चाहिए।

“मानवीय—मूल्य” के अंतर्गत वे सभी मूल्य आते हैं जो सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखने एवं उसके विकास के द्वारा राष्ट्र में सांस्कृतिक एकता बनाए रखने में सहायक होते हैं। मानव जीवन में धार्मिक—शिक्षा का स्थान सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है, परंतु इस शिक्षा का आधार संकीर्ण धर्म न होकर व्यापक धर्म होना चाहिए। कारण है कि संकीर्ण धर्म मानव में भेद उत्पन्न करता है और समाज में नाना प्रकार के संघर्षों को जन्म देता है। इस परिप्रेक्ष्य में मनु के दस धर्मलक्षण का अनुसरण करना अपेक्षित है—

**“धृतिः क्षमाः दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**

**धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।”<sup>4</sup>**

अर्थात् धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच (पवित्रता) इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग ये दस धर्म के लक्षण हैं।

इन्हीं मानवीय मूल्यों को अपनाकर प्रकृति संरक्षण में हम योगदान कर सकते हैं। मानवीय मूल्य केवल जीवन—चर्या को ही नहीं व्यवस्थित करते बल्कि दैनिक

जीवन-चर्या के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण में भी बहुमूल्य योगदान देते हैं। हमें आचार-विचार-आहार और संस्कार पर विशेष ध्यान देना होगा। पर्यावरण-प्रदूषण को रोकने के लिए हमें अपने धर्मशास्त्रों के विधानों पर भी ध्यान देना होगा। यथा- जल को प्रदूषित न होने तथा प्रदूषित जल को शुद्ध करने हेतु उपाय वेदों में वर्णित हैं-

**यासु राजा वरुणो यासु सोमशै विश्वेदेवा या सूर्य मदन्ति।**

**वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ताः आपो देवीरिह मामवन्तु।।<sup>६</sup>**

प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में पर्यावरण संरक्षण हेतु वृक्षों, वनस्पतियों, नदियों, चन्द्रमा, सूर्य आदि को देवतुल्य मानकर इनकी पूजा का विधान बताया गया है। इसीलिए वनों, वृक्षों, वनस्पतियों आदि को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हुए, पौराणिक आचार्यों ने वृक्षारोपण को सुख-समृद्धि एवं दुःखनिवृत्ति से जोड़ते हुए मनुष्यों को वृक्षारोपण के लिए उत्प्रेरित किया। मानव-मूल्य के संदर्भ में मनुष्यों के जीवन में दान का महत्त्वपूर्ण स्थान है अतः मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ वृक्ष दान करना चाहिए। वाराहपुराण में वृक्षदान को विशिष्ट दान माना गया है क्योंकि संसार में भूमिदान और गोदान से भी ज्यादा पुण्य फल वृक्षदान से प्राप्त होता है-

**भूमिदानेन ये लोका गोदानेन च कीर्तिताः**

**ते लोकाः प्राप्यन्ति पुंभि पादपानां प्ररोहणे।<sup>६</sup>**

इसी प्रकार वृहदपुराण में भगवान् विष्णु ने तुलसी वृक्ष को अतिमहत्त्वपूर्ण मानते हुए संकीर्तन किया है तथा दैनिक पूजन में उसकी अनिवार्यता बतायी है-

**एकतः सर्वनैवेद्यं नाना पुष्पविभूषणम्**

**एकतः पत्रमेकं ते द्वादशाक्षरमन्त्रवत्।।<sup>७</sup>**

मानव मूल्य के रूप में प्रत्येक मनुष्य में उदारता एवं कृतज्ञता का गुण होना भी अति आवश्यक है। मनुष्य को यह समझना चाहिए कि प्रकृति अपने हित के लिए अपने संसाधनों का प्रयोग कभी नहीं करती वह तो स्वयं मानव पर निर्भर है। वह तो स्वयं मानवों के लिए असीमित संसाधनों को उपलब्ध कराती है। ऐसी परिस्थिति में मानव को प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का भाव रखकर, सौहार्द्र एवं संतोष के साथ, उसके साथ संतुलन बनाए हुए, संरक्षण का ध्यान रखते हुए जीवनयापन करना चाहिए। पशु भी मनुष्य की तरह प्रकृति का अंग है, परंतु दोनों को अलग करने के आधारभूत तत्त्वों में मानवीय मूल्य से अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं है, इससे भी कोई असहमत नहीं हो सकता। इस कारण विकास के साथ मानवीय मूल्यों का इतना घनिष्ठ और गहरा संबंध है कि बिना मानवीय मूल्यों को साथ में लिए विकास को सही-सही समझ पाना मुझे असंभव सा दिखता है।

विकास की इसी आधारशिला पर विनाश की भी नींव रखी जा रही है। जहाँ एक ओर वैज्ञानिक विकास की इस प्रक्रिया ने मानव जाति को ढेर सारी सुख-सुविधा की वस्तुएँ उपलब्ध कराई, वहीं दूसरी ओर प्रकृति का जितना निर्मम दोहन मानवजाति ने किया, वह अपूरणीय सा दीखता है। भौतिक सुख-सुविधाओं को जुटाने के प्रयास में प्रकृति का इतना शोषण किया गया है कि न आने वाली पीढ़ियों के लिए न तो पीने के लिए शुद्ध पानी उपलब्ध हो सकेगा और न साँस लेने के लिए शुद्ध हवा। चार्ल्स डार्विन के विकासवाद की अवधारणा के अनुसार विकास की प्रक्रिया में वही प्राणी जीवित रह पाते हैं, जो अधिक सक्षम हो। इसी अवधारणा के आलोक में मनुष्य को इतने अधिकार प्राप्त हो गये हैं कि वह प्रकृति का मनचाहा दोहन, मनमाफिक इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र है। 'ईश्वर की मृत्यु' के बाद तो वह और भी स्वच्छंद हो चला है, उसे और भी किसी का कोई भय नहीं रहता। अब कौन बचा है जिससे दण्डित होने का उसे भय हो? वह स्वयं अपना भाग्यविधाता है। वह स्वयं उस प्रकृति का स्वामी बन बैठा है, जिसने उसे जन्म दिया था, जिसकी गोद में खेलकर वह आज युवा हुआ है।

यही है वस्तुतः विज्ञान व पर्यावरण के बीच के द्वन्द्व का उत्स। यहीं से जन्म लेती है पर्यावरण के विघटित होने की प्रक्रिया। प्रकृति पर विज्ञान के विजय के क्रम में समग्र मानवचेतना विज्ञान का दास बन चुकी है। मानवीय मूल्यों की दिशा में जो विकास मानव प्रजाति ने की थी, भौतिक व वैज्ञानिक विकास के क्रम में शायद मनुष्य उसको भुला दे रहा है। परंपरा के विरोध पर आधारित आधुनिक तर्कातीत विश्वासों व अवधारणाओं को भी अतार्किक कह कर नकार दे रही है। वर्तमान का पर्यावरण संकट मनुष्य द्वारा स्वयं पैदा की गयी कृत्रिम आवश्यकताओं व जरूरतों की पूर्ति के लिए प्रकृति के नियमों की उपेक्षा, मानवीय मूल्यों व परंपरा में स्वीकृत रीतियों के अपरीक्षित तिरस्कार से जन्मा है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय मूल्य से ही पर्यावरण का संरक्षण हो सकता है। मानवीय भावना जब जन-जन को आंदोलित करेगी, तब पर्यावरण-सुरक्षा के समक्ष खड़ा प्रश्न अनुत्तरित नहीं रहेगा। इसी कारण से हमारे धर्मशास्त्र एवं पुराण पर्यावरण के प्रति हमें निरंतर सावधान करते हैं। मनुस्मृति निर्देश देती है कि गाँव की सीमा पर तालाब, कुआँ आदि अवश्य बनवाना चाहिए। साथ ही वट, पीपल, ढाक, नीम, सेमल आदि वृक्षों को भी लगाना चाहिए।

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।

शल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्।।<sup>९</sup>

**संदर्भ :-**

1. अथर्ववेद 18 / 1 / 17
2. खादी ग्रामोद्योग पत्रिका, अक्टूबर 1995, पृ0-55-56
3. स्वामिकुमार / का0अनु0 / 343
4. मनुस्मृति 6 / 92
5. ऋग्वेद 7.49
6. वाराहपुराण, 170 / 39
7. बृहद्पुराण
8. यह वक्तव्य नीत्से के उस कथन की ओर संकेत करता है जिसमें नीत्से ने ईश्वर की मृत्यु की घोषणा की है।
9. मनुस्मृति 8 / 246

\*\*\*\*\*

## धर्म, धर्मनिरपेक्षता और संविधान

नवलकिशोर मिश्रा\*

लगभग पाँच हजार वर्षों से विकसित भारतीय संस्कृति अनेक उत्थान-पतन से गुजरते हुए 21वीं शताब्दी में प्रवेश कर रही है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वेभवंतु सुखिन' के प्रतिपादक भारत में बहुधा विश्व के समस्त प्राणिनों में परस्पर प्रेम, मैत्री और साहचर्य के संचार का सन्देश दिया, यहाँ अन्तरिक्ष, पृथ्वी, वनस्पतियों, जीव, ब्रह्म के साथ प्रत्येक अवयव की शान्ति के लिए अनुष्ठान किया जाता रहा है, लेकिन आजादी के साठ वर्षों के बाद में भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्वों को पहचानने और उसके अनुरूप राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास नहीं किया गया, परिणामस्वरूप आज हमारा राष्ट्रीय जीवन असन्तुलित है और हम अनेक विसंगतियों से जूझने के लिए विवश हैं।

लगभग 200 वर्षों के अंग्रेजी शासन ने भारत की मूल संकल्पनाओं एवं आदर्शों का ऐसा आंग्लीकरण कर डाला कि आज धर्म, पंथ, सम्प्रदाय, मत आदि सभी शब्दों को अंग्रेजी के शब्द रिलीजन (Religion) का पर्यायवाची समझा जाता है। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों द्वारा भारत का संविधान मूलतः अंग्रेजी में ही तैयार किया गया था, अतः मूल संविधान में जहाँ-जहाँ रिलीजन शब्द का प्रयोग किया गया, वहाँ-वहाँ इसका हिन्दी अनुवाद 'धर्म' रखने की तथाकथित मजबूरी अनुवादकों के समक्ष रही। पुनः पाश्चात्य परम्परा के अनुरूप धर्मनिरपेक्षता को भी इसी सन्दर्भ में परिभाषित किया गया। यह शब्द हमारे आचार-व्यवहार और राष्ट्रीय चिंतन में इतना व्यवहृत है और यह शब्द इतना रूढ़ हो चुका है कि इसके वास्तविक अर्थ का ही लोप हो गया है।

### धर्म (Dharma)

धर्म शब्द का व्युत्पत्तिमूलक (Etymological) अर्थ है 'धारण करने वाला'। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है—'धारणशक्ति'। महर्षि वेद व्यास ने धर्म की परिभाषा करते हुए महाभारत के उद्योगपर्व में कहा है—'नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजा' अर्थात्, जो प्रजा को धारण करता है, वह धर्म है। इस एक ही वाक्य में धर्म का समूचा तत्त्व छिपा है। व्यक्ति, समाज, संस्था, प्रकृति, ब्रह्माण्ड, लोक—परलोक सभी को धारण करने वाले जो नियम है, वे ही धर्म हैं और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—

धारणात् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा।।

अतः सारे जीवन को स्थायित्व प्रदान करने वाले नियम या लोक-स्थिति के सनातन शाश्वत मूल्य के रूप में धर्म की अवधारणा की गई है, भारतीय विचारधारा में धर्म की एक अन्य व्याख्या महर्षि कणाद 'वैशेषिक सूत्र' में करते हैं—

---

\* I gk; d i k / ; k i d ] f o f / k l d k ; ] d k ' k f g l n f o ' o f o | k y ; ] o k j k . k l l A

### यतोभ्युदयनिः श्रेयस सिद्धिः सः धर्मः ।।

जो भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्गदर्शन करता है, वही धर्म है, मंतव्य यह है कि धर्म अपने व्यापकतम अर्थ में सार्वभौमिक, सर्वांगीण, देशकाल निरपेक्ष तथा सृष्टि का धारण करने वाले नियमों का समुच्चय है। डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Eastern Religion & Western Thought' में धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—“Dharma gives coherence and direction to the different activities of life..... It is the complete rule of life, the harmony of the wholeman, who finds a right and just law of his living.”

अर्थात् धर्म से जीवन के विभिन्न कार्यों में संगति आती है और इससे उनको दिशा प्राप्त होती है यह जीवन का परिपूर्ण नियम है और ऐसे सम्पूर्ण मानव का सामंजस्य है जो अपनी जीवनचर्या को किसी सही और उचित नियम के अनुसार चलाता है राधाकृष्णन 'धर्म और समाज' में पुनः कहते हैं—“भारत में विकसित धर्म किसी एक धर्म विश्वास या एक धर्म ग्रंथ या एक पैगम्बर या संस्थापक से जुड़ा हुआ नहीं है, अपितु यह तो एक निरन्तर नवीन होते हुए अनुभव के आधार पर सत्य की आग्रहपूर्ण खोज है.....इसके पैगम्बरों और ऋषियों का कोई अन्त नहीं और न इसके सिद्धान्त ग्रंथों की ही कोई सीमा है, यह सब नवीन अनुभवों का और सत्य की नवीन अभिव्यक्तियों का स्वागत करता है” इसी कारण भारतीय ग्रन्थों में समयानुकूल परिस्थितियों में जो कर्तव्य हैं उन्हें भी धर्म द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

### रिलीजन की अवधारणा —

अंग्रेजी शब्द रिलीजन Religion भाषा के 'रिलीजियो' और 'ओनिस' से निकला है यह दो शब्द खण्डों Re (पुनः) और Legere (बाँधना) से बना है इस प्रकार Religion का अर्थ होता है 'पुनः बाँधना' अपने व्यापक अर्थ में इसका तात्पर्य है मानव को एक सूत्र में बाँधना। 'इनसाइक्लोपिडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' में रिलीजन शब्द के बारे में उल्लिखित है : “The term 'Religion' whatever its best definition, clearly refers to certain characteristic types of data beliefs, practices, feelings, modes, attitude etc.”.

अर्थात् 'रिलीजन' शब्द की जो कुछ भी परिभाषा है वह स्पष्ट रूप से कुछ विशिष्टताओं को सूचित करती है, जैसे विश्वास, अभ्यास या व्यवहार, अनुभूति, मनोदशा और दृष्टिकोण इत्यादि।

## धर्म और रिलीजन में अन्तर

यदि हम धर्म शब्द की अंग्रेजी के रिलीजन (Religion) शब्द से तुलना करें तो ज्ञात होगा कि दोनों के अर्थों और प्रयोग में बहुत अन्तर है। जैसा कि उपर्युक्त वर्णित परिभाषा से भी ज्ञात होता है। रिलीजन शब्द का प्रयोग केवल बाह्य आचार और व्यवहार के लिए किया जाता है, उसका अर्थ धार्मिक क्रिया—कलापों अर्थात् पूजा—पाठों और कर्मकाण्डों (Rituals) से लिया जाता है। धर्म शब्द का प्रयोग केवल यहीं तक सीमित नहीं है। धर्म शब्द इतना व्यापक है कि पश्चिम में जिसे कल्चर (Culture) के नाम से पुकारा जाता है वह भी इसमें समा जाता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए रबीन्द्रनाथ टैगोर ने तो Civilization के लिए धर्म शब्द को उपयुक्त माना है। इस प्रकार दोनों शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी शब्द रिलीजन का पर्याय पंथ माना जा सकता है, परन्तु धर्म कदापि नहीं। उदाहरण के तौर पर हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही दर्जनों पंथ या सम्प्रदाय हैं, जैसे—शैव, वैष्णव, लिंगायत, शाक्त, आजीवक, जैन, बौद्ध, आर्य समाजी, ब्रह्मसमाजी, सिख इत्यादि यह उल्लेखनीय है कि किसी तथ्यात्मक अवधारणा के भाषागत महत्व को अस्वीकार नहीं करना चाहिए। इसकी महत्ता स्थापित करते हुए अमरीकी दार्शनिक जॉर्ज सान्तयाना ने कहा है—“प्रत्येक युग में बुद्धिमान विचारकों ने अपने देश और काल के धर्म में ऐसे तत्त्व पाये हैं, जो कि स्वीकार किए जा सकें तथा उनके आधार पर धर्म की ऐसी व्याख्या की जा सके जिससे कि गहनता तथा सार्वभौम उपयोगिता प्राप्त हो सके। वे क्षेत्र जिन्हें कि ये खोजता है, या वे रहस्य जिनको कि यह स्थापित करता है, हमारे निवास के लिए एक अन्य ही संसार बनाते हैं, चाहें हम उससे गुजरना स्वीकार करें अथवा न करें, किन्तु वही धर्म का वास्तविक अर्थ है।”

## धर्मनिरपेक्षता —

‘धर्म निरपेक्षता’ दो शब्दों (धर्म + निरपेक्ष) का युग्म है, धर्म की उपर्युक्त परिभाषा को देखते हुए उससे निरपेक्ष रहने की राज्य की सोच ने विभ्रम पैदा किया है। वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष शब्द अंग्रेजी के सेक्यूलर (Secular) का रूपान्तरण है, सेक्यूलर शब्द का अर्थ होता है—लौकिक, ऐहिक, सांसारिक अथवा बुनियादी। अंग्रेजी का यह शब्द लैटिन भाषा के ‘सेक्यूलम्’ से उद्भूत हुआ और उसे उन ईसाई धर्मानुयाइयों के लिए प्रयोग किया गया जो भौतिक सुविधा—सम्पन्न नगरीय जीवन का आनन्द उठाते थे। सी. विलियम्स के अनुसार इसका अर्थ है ‘इस युग का’ या ‘इस विश्व से सम्बद्ध’ सेक्यूलर शब्द का अर्थ कोष के अनुसार इस प्रकार है—Rivalry between church and state, concerned with the affairs of the world, not sacred, not monastic, temporal, profane,



not ecclesiastical.” इनसाइक्लोपीडिया अमरीकाना में इसका तात्पर्य आचार—विचार के कायदे कानूनों वाली एक ऐसी नैतिक संहिता बताया गया है जो आध्यात्मिक या पराभौतिक मान्यताओं से पूर्णतया अलग है, इसकी मुख्य विशेषताएं हैं—

- (क) एक आदमी को बिना किसी दबाव के स्वयं विवेचन करने की स्वतन्त्रता,
- (ख) अन्य व्यक्तियों से हटकर सोचने, करने का अधिकार तथा
- (ग) ईश्वर या अन्य अलौकिक मान्यताओं के बारे में अपनी जिज्ञासा, शंका या मतभेद प्रकट करने की स्वतन्त्रता।

1780 में जॉर्ज होलियोक ने सर्वप्रथम सेक्यूलरिज्म शब्द का प्रयोग करके इसकी व्याख्यास्वरूप इसमें अधोलिखित पाँच मंतव्य स्वीकार किए—

- (1) तर्कसंगत नियम;
- (2) पंथ (Religion) से आचार—विचार को अलग रखना;
- (3) ज्ञान को आस्था के स्थान पर तर्क का आधार मानना;
- (4) विचार स्वातंत्र्य एवं
- (5) संसार को सतत श्रेष्ठ बनाने के प्रयास में योगदान।

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि Secular शब्द मध्ययुगीन गिरजाघरों और राज्य के मध्य संघर्ष के दौरान अस्तित्व में आया 1529 में जब रोमन कैथोलिक चर्च की रीति—नीति से त्रस्त मार्टिन लूथर ने प्रोटेस्टेन्ट शाखा को खड़ा किया तब कालान्तर में इसी धर्म सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप गिरजाघर और राज्य दोनों अलग—अलग हो गए। राज्य का कार्य लौकिक क्षेत्रों की सुव्यवस्था तथा चर्चा का कार्य पारलौकिक या आध्यात्मिक क्षेत्रों तक सीमित कर दिया गया।

#### धर्मनिरपेक्षता : विभिन्न दृष्टिकोण

न्यायमूर्ति दुर्गादास बसु के शब्दों में—“धर्मनिरपेक्ष राज्य से तात्पर्य ऐसा राज्य है जिसका अपना कोई धर्म नहीं है और जो सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार करता है” प्रख्यात दार्शनिक डॉ. एस. राधाकृष्णन के शब्दों में—

“जब भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य कहा जाता है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि हम अदृश्य आत्मा की सच्चाई या जीवन में धर्म की प्रासंगिकता को अस्वीकार करते हैं या अधार्मिकों को ऊँचा दर्जा देते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि धर्मनिरपेक्षवाद एक सकारात्मक धर्म बन जाता है या राज्य को दैवी अधिकार मिल जाते हैं।”

दार्शनिक एवं विचारक एम.एन. राय के शब्दों में—“धर्म निरपेक्षता का अर्थ है सतत जागरूकता, जिज्ञासा, विश्वास और बुद्धि के अधीन होकर मृत्योपरांत काल्पनिक जीवन की अपेक्षा इस दुनिया के जीवन को अधिक महत्व देना।”

डोनाल्ड यूजीन स्मिथ ने अपनी पुस्तक—“India as a Secular State” में धर्म निरपेक्षता को इस प्रकार परिभाषित किया है—“धर्म निरपेक्ष राज्य ऐसा राज्य है जो व्यक्ति और संस्थाओं को धर्म की स्वतन्त्रता देता है और जो व्यक्ति के साथ एक नागरिक के रूप में व्यवहार करता है, चाहे वह किसी भी धर्म का हो, जो संवैधानिक रूप से किसी विशेष धर्म के साथ नहीं जुड़ा हो और जो न किसी विशेष धर्म को बढ़ावा देता हो और न किसी धर्म में हस्तक्षेप करता है।”

### **संविधान में धर्मनिरपेक्षता**

18 दिसम्बर 1976 को राष्ट्रपति ने भारतीय संसद द्वारा पारित 42वें संविधान संशोधन पर स्वीकृति देकर भारत को पंथनिरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया। भारतीय संविधान में धर्म को व्यक्ति के अन्तःकरण का विषय माना गया है। संविधान में कई उपबन्धों द्वारा सभी धर्मों के प्रति निष्पक्षता का दृष्टिकोण सुनिश्चित करने की बात कही गई है। इसके मूल अधिकार वाले अध्याय में उल्लिखित है कि भारत में कोई ‘राज्य-धर्म’ नहीं होगा। राज्य किसी नागरिक को किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक संस्था की अभिवृद्धि या पोषण के लिए करों का संदाय करने के लिए बाध्य नहीं करेगा। (अनुच्छेद 27) पूर्णतः राज्य के लिए वित्त पोषित किसी शिक्षण संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। राज्य से मान्यता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में अवयस्क छात्रों को बिना उसके अभिभावक की स्वीकृति के धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के बाध्य नहीं किया जाएगा (अनुच्छेद 28)। अनुच्छेद 25 में यह प्रावधान है कि प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक विश्वास और उसके अनुरूप आचरण करने के लिए तथा अपने विचारों को दूसरों के समक्ष रखने में स्वतन्त्र है। प्रत्येक किसी भी व्यक्ति को धार्मिक प्रयोजनों हेतु संस्थाओं की स्थापना, धर्म विषयक कार्यों का प्रबन्धन, जंगम और स्थावर सम्पत्ति का अर्जन और ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन का अधिकार होगा (अनुच्छेद 26), अनुच्छेद 29 में यह उपबन्ध है कि यदि किसी क्षेत्र में धार्मिक सम्प्रदाय अल्पसंख्यक है तो राज्य उस सम्प्रदाय पर कोई भिन्न संस्कृति अधिरोपित नहीं करेगा। अनुच्छेद 30 में यह व्यवस्था है कि अल्पसंख्यक धार्मिक सम्प्रदाय अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करने और प्रशासन करने को स्वतन्त्र है। उच्चतम न्यायालय ने यह अवधारित किया है कि अल्पसंख्यक अपनी शिक्षण संस्थाओं में अपने समुदाय के लोगों के लिए पचास प्रतिशत स्थान आरक्षित कर सकता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 48 में गो-हत्या पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। सिखों को कृपाण रखने की अनुमति दी गई है, इत्यादि।

### **धर्मनिरपेक्षता और राजनीतिक पाखंड**

आश्चर्य की बात है आज जहाँ हम आजादी के पचास वर्ष के उपलक्ष्य में स्वर्ण जयन्ती मना चुके हैं वहीं प्रतिनिधिमूलक शासन वोट और सत्ता की प्राप्ति के लिए

धर्मनिरपेक्ष शब्द का मनमाना व्यवहार करते हुए संविधान की मूल भावना पर ही आघात पहुँचा रहे हैं। दसवीं लोक सभा से ही कुछ राजनीतिक दलों ने अल्पसंख्यकों के लिए नौकरियों और सैन्य बलों में आरक्षण देने का वचन देना प्रारम्भ किया था। यह वास्तव में उसी माँग की पुनरावृत्ति है जो ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मेकडोनाल्ड ने भारत की राजव्यवस्था में 'साम्प्रदायिक अधिनिर्णय' के रूप में दी थी और जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा भारत के रक्त रंजित विभाजन में हुआ। यहाँ इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि सरकार किसी लोक पद की नियुक्ति का औचित्य गुणागुण के आधार पर न देकर इस आधार पर बताती है कि नियुक्त व्यक्ति धार्मिक अल्पसंख्यक है, तो यह अनुच्छेद 16(2) के अधीन अन्य समुदायों के मूल अधिकारों का उल्लंघन होगा। अनुच्छेद 44 राज्य को यह निर्देश देता है कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एकसमान सिविल संहिता प्रदान करने का प्रयत्न करेगा, लेकिन इसके विपरीत वर्ष 1986 में शाहबानो मुकदमा में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को नाकाम करने के लिए मुस्लिम महिला विधेयक पारित कर दिया गया। यह विचारणीय है कि 1954 में तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि समान नागरिक संहिता बनाने के लिए अभी समय परिपक्व नहीं है। 60 वर्षों के बाद भी हम आज भी यही कह रहे हैं। यद्यपि इस सन्दर्भ में सर्वोच्च न्यायालय भी सरकार से पूछ चुका है तथापि इस दिशा में कोई कार्यवाही नहीं हो सकी है, जबकि सीरिया, मोरक्को, ईरान इत्यादि इस्लामिक देशों ने अपने पर्सनल लॉ को आधुनिक मान्यताओं के अनुसार परिवर्तित कर बहु-विवाह जैसी प्रथाओं पर रोक लगा दी है। यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि जब संविधान बना तब मुसलमानों ने यह माँग की कि समान नागरिक संहिता (अनुच्छेद 44) उस पर लागू नहीं हो, लेकिन उनके दावों को इस आधार पर नामंजूर कर दिया गया कि विवाह, विरासत आदि जो वैयक्तिक विधि के प्रवर्ग में आते हैं, ऐसे विषय हैं जिनका धर्म से कोई सारवान सम्बन्ध नहीं है, यदि सरकार मुसलमानों की माँग के सामने समर्पण कर देती है, तो क्या वह ईसाइयों और अकाली नेताओं की इस माँग को अस्वीकार कर सकती है कि उनके व्यक्तिगत विधि के लिए पृथक संहिता होनी चाहिए?

संविधान के मूलस्वरूप की अवहेलना करते हुए संयुक्त फ्रंट शासन के दौरान केरल में (1967.69) मुस्लिम बहुमत का एक जिला मल्लापुरम् बनाया गया। 1983 में संयुक्त लोकतांत्रिक मोर्चा के सरकार ने कासरगोड में एक दूसरा मुस्लिम बहुल जिला बनाने की माँग स्वीकार कर ली संविधानिक विधि का कोई जानकार यह कह सकता है कि अल्पसंख्यकों का प्रश्न समस्त राज्य की जनसंख्या के आधार पर ही आधारित किया जा सकता है। संसद ने 17 मई, 1992 को राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग

अधिनियम पारित कर दिया, जबकि भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करने का उपबन्ध पहले से ही अनुच्छेद 350(ख) में विद्यमान है अंग्रेजी शासन में भी सर समुअल होर ने यह कहते हुए इसे खारिज कर दिया था कि “यदि आप उन्हें आज्ञापरक शक्ति देंगे तो आप दो सरकारें स्थापित कर देंगे।” पंडित नेहरू की भावुकता का परिणाम आज कश्मीर को अलग किस्म का भारत बना चुका है। स्वतंत्र भारत के नागरिक (कश्मीरी पंडित) अपने ही देश में शरणार्थी बने हुए हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी अमानवीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं, लेकिन उनके सहायतार्थ मानवीय पहल करने से राजनीतिज्ञ डरते हैं कि कहीं इससे वोट न प्रभावित हो जाय। राजनीतिज्ञों ने अंग्रेजों का फार्मूला अपनाते हुए भारतीय नागरिकों को मुस्लिम, सिख, इसाई के रूप में देखना शुरू कर दिया। इन अल्पसंख्यकों में भी ऐसा नेतृत्व स्वभाविक रूप से उभरा जो वोट की कीमत वसूलने के लिए सत्ताधीशों के साथ ब्लैकमेल कर सके। केरल के गिरजाघरों, दिल्ली के जामा मस्जिद, अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर, अयोध्या मंदिर से दलों ने अपने-अपने लिए फतवे जारी करवाकर भारतीय धर्मनिरपेक्षता की छवि का उपहास किया, धर्मनिरपेक्षता को निहित स्वार्थ का शब्द समझा जाता है तथा अपनी-अपनी हितपूर्ति के अनुरूप व्याख्या की जाती है। मुस्लिम वोट बैंक की राजनीति करने वाले इसका अर्थ शरियत के अनुरूप वैयक्तिक कानून की स्वतंत्रता मान रहे हैं, जो बात भारत के बाहर इस्लाम विरोधी नहीं मानी जाती उसे भी धर्मनिरपेक्षता की आड़ में कुछ राजनीतिज्ञ मुस्लिम धर्म विरोधी बता रहे हैं।

### उपसंहार

यह एक अप्रिय सत्य है कि सन् 1947 में भारत द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भारत का विभाजन धर्म के आधार पर हुआ। ‘पृथक धर्म पृथक, राष्ट्र’ इस मान्यता के आधार पर हिन्दू और इस्लामिक दो राष्ट्रों की परिकल्पना करते हुए भारत माता का अंग-भंग किया गया। इसी दुखद घटना से सबक लेते हुए भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाने का प्रयास किया गया। धर्म सम्बन्धी अनेक उपबन्धों को संविधान में समाविष्ट किया गया जो भारतीय संस्कृति के वैविध्य के अनुकूल हो, लेकिन इस धरा के मन-प्राण में विकसित संवर्द्धित धर्म की अवधारणा और उसके अनुरूप धर्मनिरपेक्षता तथा संविधान में उसका महत्व स्पष्ट नहीं हो सका। पश्चिम में विकसित सेक्यूलरवाद पर गम्भीर चिंतन नहीं किया गया। सत्ता की राजनीति करने वालों ने समय-समय पर इसकी अनुचित और मनमानी व्याख्या करके लोगों को दिग्भ्रमित किया। राष्ट्र के प्रबुद्धों ने भी इस दिशा में सकारात्मक पहल नहीं की। उच्चतम न्यायालय ने भी संवैधानिक दायरे में रहते हुए धार्मिक मामलों पर ज्यादा तकनीकी दृष्टिकोण रखा है। सच तो यह

है कि संविधान में और भारतीय लोकतंत्र में धर्म और धर्मनिरपेक्षता के साथ न्याय नहीं हुआ है। यह स्वीकार करना होगा कि मानवमन सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता भले ही किसी विषय का प्रतिपादन अत्यधिक सावधानी और ईमानदारी से ही क्यों न किया जाय। इसलिए संविधान निर्माताओं को दोषी ठहराना अनुचित होगा। दोषी तो वे लोग हैं जिन्होंने अनुचित लाभ उठाने के प्रयास में इसकी मनमानी व्याख्या कर राष्ट्र की एकता, अखण्डता और इसकी बहुरंगी संस्कृति पर चोट पहुँचाई है। यह उल्लेखनीय है कि जो कोई यह समझता है कि अल्पसंख्यकों को निरन्तर बढ़ती हुई माँगों को स्वीकार करना धर्मनिरपेक्षता है, तो उसे इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि एक धर्म के विरुद्ध दूसरे धर्म का समर्थन करना उच्चतर कोटि की साम्प्रदायिकता है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों पर कवि पोप की उक्ति सटीक प्रतीत होती है कि—“राजनीति अनेक व्यक्तियों का उन्माद है।”

### सन्दर्भ सूची

1. जैन, एम.पी. 'भारत का संविधान'।
2. सिरवई, एच.एम. 'इण्डियन कान्स्टीट्यूसन'।
3. महर्षि वेदव्यास, 'महाभारत'।
4. कृष्णन. 'इस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट'।
5. महर्षि कणाद. 'वैशेषिक सूत्र'।
6. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स।
6. बसु, दुर्गादास. 'भारत का संविधान'।
7. स्मिथ, डोनाल्ड यूजीन. 'इण्डिया इज से सेक्यूलर स्टेट'।

\*\*\*\*\*

## धर्म, जीवन सम्पूर्णता की एक विधि

विनय कुमार सिंह यादव\*

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति ।

धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ।

उपनिषद् कहते हैं कि सारा जगत धर्म के मूल पर स्थित है। इसीलिए लोक में लोग उसी के पास जाते हैं जो धर्मिष्ठ हैं, धर्म से पाप को दूर करते हैं, धर्म में सब प्रतिष्ठित है, इसलिए धर्म को सबसे बड़ा कहते हैं।

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है—धारण करना, बनाये रखना अथवा पुष्ट करना। इसका तात्पर्य है कि जो तत्त्व सम्पूर्ण संसार के जीवन को धारण करता हो, जिनके बिना संसार में व्यक्ति की स्थिति संभव न हो तथा जिससे सभी कुछ संयमित और सुव्यवस्थित बना रहे, वही धर्म है। वेदों उपनिषदों, गीता और स्मृतियों में धर्म को भिन्न-भिन्न रूप से परिभाषित किया गया है लेकिन इन सभी का उद्देश्य आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेना है। क्योंकि आत्मा ही ईश्वर का वास्तविक निवास स्थान है। यह ज्ञान होना ही कि ईश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है, सभी धर्मों का मूल सिद्धान्त है।

विश्व में अनेकों धर्म-संप्रदाय प्रचलित हैं। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, यहूदी आदि विभिन्न नामों से प्रचलित इन धर्म संप्रदायों पर दृष्टिपात करने से यही पता चलता है कि उनके बाह्य-स्वरूप एवं क्रिया-कृत्यों में जमीन-आसमान जितना अंतर है। क्रिया-कृत्यों में यह अंतर होना उचित भी है क्योंकि जिस वातावरण में, जिन परिस्थितियों में वे पनपे और फैले हैं उनकी छाप उन पर पड़ना स्वाभाविक है। मनीषी, अवतारी, महामानवों ने देश, काल व परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए श्रेष्ठता-संवर्धन एवं निकृष्टता-निवारण के लिए जो सिद्धान्त एवं आचार-शास्त्र विनिर्मित किये, कालांतर में वे ही धर्म-सम्प्रदायों के नाम से जाने-पहचाने लगे, इस कारण उनके बाह्य कलेवर में विविधता होना स्वाभाविक है। फिर भी जहाँ तक मौलिक सिद्धान्तों की बात है वह सभी धर्मों में एक ही हैं। सभी ने एक चेतन सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करना मानव का अंतिम लक्ष्य स्वीकार किया है। यही वह सार्वभौम तत्त्व है, जो मानव समुदाय ही नहीं अपितु समस्त प्राणियों को एकता के सूत्र में पिरोये हुए है।

एक बार साम्यवादी विचारधारा के एक पाश्चात्य विद्वान महात्मा गाँधी के पास जाकर बोले—'महात्मा जी जब इस संसार में इतना छल कपट, अशांति और खून-खराबा चल रहा है, तब भी आप धर्म की बात करते हैं। बुराईयाँ और रक्तपात जितनी तेजी से बढ़ रहे हैं, उसे देखते हुए धर्म निहायत बेकार चीज है।' बापू ने कहा—'महोदय!

जरा सोचिए तो सही कि जब धर्म की मान्यता रहते हुए लोग इतनी अशांति फैलाएं हुए हैं तो उसके न रहने पर यह कल्पना सहज ही में की जा सकती है तब संसार की क्या दशा होगी?’ इस पर उस सज्जन से कोई जवाब देते न बन पड़ा। बापू के कथन से स्पष्ट होता है कि धर्म सामाजिक विघटन को रोकता है। सभी धर्मों का एक ही उद्देश्य है पशुता पर नियंत्रण और देवत्व का विकास। यदि नीर-क्षीर विवेक बुद्धि को अपनाया जाए तो धार्मिक विभेदों के बीच एकता का यह सारतत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिलेगा। धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों का निर्माण उच्च उद्देश्यों को लेकर ही किया गया है। यद्यपि देश-काल परिस्थिति के अनुसार उनमें कुछ ऐसे कारण हो सकते हैं जिन्हें आज की परिस्थितियों में अनुपयुक्त समझा जाता है ऐसी स्थिति में कई विधि-निषेध परिवर्तनीय बन जाते हैं। यदि किसी नियम अथवा व्यवहार के तरीके से व्यक्ति और समाज का जीवन संगठित न हो बल्कि विघटित हो जाये, पाखण्ड और मिथ्याचार में वृद्धि हो जाये अथवा जिससे समाज टूट जाये, वह धर्म नहीं हो सकता। वास्तव में धर्म व्यक्ति, समूह और समाज के कर्तव्यों को स्पष्ट करता है तथा विभिन्न परिस्थितियों से व्यक्ति को अनुकूलन करने की क्षमता प्रदान करता है।

समय-समय पर प्रत्येक देश में ऐसे संत-सुधारक, अध्यात्मवेत्ता, महामनीषी हुए हैं, जिन्होंने प्राचीन मौलिक आदर्शमूलक उद्देश्यों जो परिस्थिति में परिवर्तन आने से जनमानस के उत्पीड़न का कारण बन गये या अवांछनीय प्रतीयमान हो रहे थे, उसे दूर करने के लिए लम्बे समय तक संघर्ष किया। वे धर्म-विद्रोही नहीं, अपितु धर्म सुधारक थे। संस्थापित रूढ़िवादी धर्माध्यक्षों ने संकीर्ण स्वार्थपरता वे वशीभूत हो इन्हें धर्मद्रोही बताकर इनकी प्रताड़ना करने में भी कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखा है। बुद्ध, ईसा, महावीर, पैगम्बर मोहम्मद, आचार्य शंकर, कबीर, मीरा, तुलसी, टेरेसा, बर्नाडिटी आदि को कितने कष्ट झेलने पड़े हैं, सर्वविदित हैं, फिर भी ये लोग अपने पथ से विचलित नहीं हुए। त्याग, तपश्चर्या, बलिदान, सेवा, परोपकार की कष्टसाध्य प्रक्रिया को अपनाने में ऐसे महापुरुष संतोष व गर्व का अनुभव करते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व विश्व में धर्म का व्यापक प्रभाव था। समाज धार्मिक मान्यताओं के आधार पर ही चलता था तथा अर्थव्यवस्था सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन, शिक्षा, नैतिक मूल्य आदि को नियमित तथा निर्देशित करती थी परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् धर्म का महत्त्व सार्वजनिक जीवन में समाप्त होने लगा तथा सामाजिक जीवन में धर्म निर्पेक्ष मूल्यों का महत्त्व बढ़ा। विज्ञान, तर्क, भौतिकवादिता आदि मूल्य अधिक शक्तिशाली हुए जिससे धर्म का व्यक्ति के जीवन तथा उसके सार्वजनिक एवं सामाजिक जीवन को निर्धारित करने की क्षमता में ह्रास आया। धार्मिक मान्यताएँ, प्रचलनों, विश्वासों को काटने की एक वैज्ञानिक परम्परा चली जो कुछ दशक

पूर्व तक जारी रही। इसके विरुद्ध प्रतिक्रियावादी आन्दोलन विश्वव्यापी चले जिसमें ईरान में आयातुल्लाह अली खुमैनी के नेतृत्व में इस्लामिक क्रान्ति, 1980 के दशक में अफगानिस्तान में तालिबान आन्दोलन, 1970 के दशक में अमेरिका में The New Christian Rights Association, भारत में आर्य समाज, देवसमाज, देवनन्द जैसे धार्मिक पुनः प्रवर्तनवादी आंदोलन देखे जा सकते हैं। ऐसे आन्दोलन मानते हैं कि धर्म पर आधारित समाज आदर्श समाज होता है, ऐसे में जैसे-जैसे समाज धर्म से विपथ हो रहा है अपराध, आत्महत्याएँ, तनाव, तलाक जैसी समस्याएँ बढ़ रही हैं जिससे मानव जीवन तथा समाज दोनों अवनति उन्मुख हैं। फलस्वरूप समाज का पुनः उसके आदर्श स्थिति में लाने के लिए धर्म के पुराने गौरव को लौटाना आवश्यक है।

प्रथम दृष्टया धर्म तथा विज्ञान एक-दूसरे के विरोधाभाषी दिखाई देते हैं परन्तु वास्तविकता में दोनों की मानव कल्याण के प्रति प्रतिबद्धता कई अर्थों में एक-दूसरे की पूरक बनाती है। दोनों ही समाज तथा विश्व में होने वाली घटनाओं एवं व्यवहारों की व्याख्या करते हैं तथा दोनों का उद्देश्य मानव जीवन में जो अज्ञानता तथा अविश्वास है उसे दूर कर वास्तविक ज्ञान दिया जाए। कई विचारकों ने विज्ञान तथा धर्म में इस पूरक सम्बन्ध को देखा तथा इस अन्वेषण पर बल दिया कि धर्म का आधार भी वैज्ञानिक होता है। Ricard Metty ने अपनी पुस्तक "Ethos of Religion" में लिखा कि धार्मिक मान्यताएँ अगर हजारों साल से अनवरत चल रही हैं तो इसका मुख्य कारण ही इसका वैज्ञानिक आधार है जिसे अब प्रमाणित किया जा रहा है। उदाहरण के लिए हिन्दुओं में जनेऊ पहनने से पक्षाघात या लकवे की बीमारी नहीं होती है। ऐसा ही पूरब के दिशा में सिर करके सोने से वैज्ञानिक लाभ प्रमाणित हो चुके हैं।

वस्तुतः अपने विराट स्वरूप में धर्म उतना ही व्यापक है जितना की यह विश्व। जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं जो धर्म के अंतर्गत न आता हो। ऐसी कोई भी विद्या नहीं है, जहाँ धार्मिकता, कर्तव्यपरायणता, उच्चस्तरीय आदर्शवादिता की आवश्यकता न हो। चाहे वह राजतंत्र हो, अर्थतंत्र हो अथवा समाजतंत्र, नीतिमत्ता, कर्तव्यपरायणता, अनुशासन, सहकार के बिना व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक किसी भी जीवन की आधारशिला सुदृढ़ नहीं बनी रह सकती। धर्म को इसी कारण समाज के स्थायित्व की धुरी कहा गया है, जिसके धारण किए जाने से समाज की, सारे समूह की रक्षा होती है धर्म अपने शाश्वत रूप में हर समय के लिए, हर समाज के लिए अनिवार्य है, प्रगति का मूल आधार है। उसकी आवमानना या उपेक्षा कभी भी नहीं की जानी चाहिए।

\*\*\*\*\*



## ‘सत्याग्रह’ : एक जीवन मूल्य

प्रभात कुमार मिश्र\*

महात्मा गांधी का मानना था कि मनुष्य ही सभी बातों का मापदण्ड है। वह मानव मूल्यों को सर्वोच्च मानते थे। गांधी नहीं चाहते थे कि किसी भी अवस्था में मनुष्य की स्वाधीनता, प्रतिष्ठा, आत्मसम्मान तथा प्रतिभा एवं योग्यता के विकास के अवसरों पर आंच आए। उनका संदेश व्यक्ति की अपनी आत्मा तथा इच्छाशक्ति को बलवान बनाकर असत् शक्तियों से लड़ने के लिए प्रेरित करना था। गांधी के अध्येताओं ने यह बताया है कि वह सत्य के साथ अपने प्रयोगों के माध्यम से दरअसल मानव स्वभाव को ही बदल देना चाहते थे।

सवाल है, यह मानव स्वभाव है क्या ? आहार, निद्रा, भय आदि मनोभाव और चेष्टाएं तो सभी प्राणियों में समान हैं—

“आहार निद्रा भय मैथुनम् च सामान्यमेतत् पशुर्भिनराणाम्।

धर्मोहि तेषाम् अधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।।”

मनुष्य जब शरीर मात्र के सुख और आनन्द की पूर्ति का प्रयत्न करता है तो वह अपने उस छोटे प्रयोजन में उलझा रहता है जो पशुओं के समान ही है। बहुत प्राचीन काल से इन पशु-सामान्य प्रवृत्तियों को मनुष्य ने तिरस्कार के साथ देखा है। वह इन तुच्छताओं से ऊपर उठ सका है, यही उसकी विशेषता है। मनुष्य ने अपने बोध को इंद्रियों की छोटी सीमा से बाहर निकाला है, उसे व्यापक बनाया है और सूक्ष्म भी। इस तरह अपनी लम्बी विकास यात्रा में उसने पशु सुलभ वृत्तियों को परिष्कृत बनाकर उन्हें मानवीय रूप दिया है। भोग में संयम और आत्मत्याग की भावना विकसित की है मनुष्य ने। अपनी नैसर्गिक कामभावना के संतुलन के लिए उसने विवाह-संस्था का विकास किया है, परिवार और समाज को जन्म दिया है।

मनुष्य की यह विकास यात्रा असल में प्रकृति से संस्कृति तक की यात्रा है। पशु समान प्रकृति में जन्म लेकर भी मनुष्य प्रकृति का दास होकर नहीं रह जाता। वह इस प्रकृति को जीतता भी है। जो जन्मना प्रदत्त है वह है प्रकृति और उस प्रदत्त में आवश्यकतानुसार जब हम कुछ परिवर्तन या सुधार या संस्कार करते हैं, तब वह हो जाती है संस्कृति। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने एक निबन्ध ‘नाखून क्यों बढ़ते हैं?’ में इसे समझाया है। उनके अनुसार मनुष्य के नाखून उसकी भयंकर पाशविक वृत्ति के प्रतीक हैं और मनुष्य द्वारा उसे लगातार काटते जाना उसकी मानवीय वृत्ति का। मनुष्य की नैसर्गिक पशुता को जितनी बार भी काट दो वह मरना नहीं जानती। लेकिन, ऐसी सभी अधोगामिनी वृत्तियों को मानव ने मानवोचित बनाया है। यही है प्रकृति से निकलकर संस्कृति तक पहुंचना।

संस्कृतिकरण की यह प्रक्रिया परिवर्तन मात्र के लिए नहीं बल्कि विशिष्ट लक्ष्य के लिए होती है और इस लक्ष्य को जब हम अपने जीवन में प्राप्तव्य बनाते हैं, अपना आदर्श मान लेते हैं, तब वह हमारा मूल्य बन जाता है। गांधी सदैव जीवन में किसी-न-किसी आदर्श को रखकर चलने की बात कहते थे। उनका विचार था कि बिना आदर्श के मनुष्य पाल-रहित जहाज के समान है। आदर्श अनन्त होता है और उसकी पूर्ण सिद्धि कभी नहीं होती परन्तु मनुष्य को आगे बढ़ने की शक्ति आदर्श के द्वारा ही मिलती है। गांधी के समूचे जीवन, कर्म और सत्य के साथ उनके प्रयोगों को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि प्रमुख रूप से गांधी ने व्यक्ति और लोकजीवन को सात प्रकार की चीजों से बचने की सलाह दी है—सिद्धांत विहीन राजनीति, श्रमविहीन धन, विवेकहीन उपयोग, चरित्रविहीन ज्ञान, नैतिकता विहीन व्यापार, मानवता विहीन विज्ञान, और त्याग, बलिदान तथा समर्पण विहीन आराधना। ये ही गांधी के आदर्श और जीवन—मूल्य हैं। इनको आधार बनाकर ही गांधी ने अपना सत्याग्रह का दर्शन प्रस्तुत किया है जिसमें सत्याग्रह का अर्थ है अत्याचार के प्रतिरोध या विरोध के लिए सत्य का आचरण।

‘सत्याग्रह’ का अर्थ है ‘अहिंसा’ के माध्यम से ‘सत्य’ की प्राप्ति। यद्यपि इस वाक्य में प्रयुक्त तीनों ही शब्द पारिभाषिक हैं। गांधी ने इन शब्दों का प्रयोग ठीक उसी अर्थ में नहीं किया है जो कि इनका लोकप्रचलित अर्थ है। ‘सत्याग्रह’ को आरम्भ में यूरोप के लोगों ने ‘निष्क्रिय प्रतिरोध’ के रूप में समझा था किन्तु गांधी को यह स्वीकार नहीं था उन्होंने बताया कि ‘सत्याग्रह’ केवल ‘निष्क्रिय प्रतिरोध’ नहीं है बल्कि उससे इसका महत्व कहीं ज्यादा है। रोमां रोला ने इसकी चर्चा करते हुए इसे ‘सक्रिय प्रतिरोध’ कहा है जिसमें प्रेम, विश्वास और आत्मत्याग की तीन शक्तियां सम्मिलित हैं। उन्हीं के शब्द हैं—“सत्याग्रह शब्द का आविष्कार उन्होंने तभी किया था, जब वे अफ्रीका में थे—उद्देश्य था अपनी कर्म—साधना के साथ निष्क्रिय प्रतिरोध का भेद स्पष्ट करना। और इस भेद पर खासा जोर देना ही पड़ेगा, क्योंकि देखा जाता है कि यूरोपवाले गांधी के आंदोलन को ‘निष्क्रिय प्रतिरोध’ (अथवा अप्रतिरोध) के रूप में समझना चाहते हैं, यद्यपि वास्तव में इससे बड़ी गलती दूसरी नहीं हो सकती। निष्क्रियता के लिए इस अदम्य योद्धा के मन में जितनी घृणा है, उतनी संसार के किसी दूसरे व्यक्ति में नहीं होगी—ऐसे वीर ‘अप्रतिरोधी’ का दृष्टांत संसार में सचमुच विरल है। उनके आंदोलन का सार तत्त्व है ‘सक्रिय प्रतिरोध’।”

अपनी आत्मकथा में गांधी ने इस प्रसंग में बताया है कि ‘सत्याग्रह’ शब्द से पहले उस वस्तु की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति के समय तो यह क्या है, मैं खुद भी नहीं समझ सका था। उसे गुजराती में ‘पैसिव रेजिस्टेंस’ इस अंग्रेजी नाम से सब समझने लगे। जब

गोरों की एक सभा में मैंने देखा कि पैसिव रेजिस्टेंस का तो संकुचित अर्थ किया जाता है, वह निर्बलों का ही हथियार माना जाता है, उसमें द्वेष की गुंजाइश है और उसका अंतिम स्वरूप हिंसा में प्रकट हो सकता है, मुझे उसका विरोध करना पड़ा और हिन्दुस्तानियों के संग्राम का सच्चा स्वरूप समझाना पड़ा। तब हिन्दुस्तानियों को अपने संग्राम का परिचय देने के लिए नए शब्द की योजना करनी पड़ी। पर वैसा स्वतंत्र शब्द मुझे किसी तरह सूझ नहीं रहा था। अतः उसके लिए नाममात्र का इनाम रखकर 'इंडियन ओपीनियन' के पाठकों में इसकी प्रतियोगिता कराई। इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप मगनलाल गांधी ने सत्-आग्रह की संधि करके 'सदाग्रह' शब्द बनाकर भेजा। इनाम उन्हें मिला, पर 'सदाग्रह' शब्द को अधिक स्पष्ट करने कि ख्याल से मैंने 'य' अक्षर बढ़ाकर 'सत्याग्रह' शब्द बनाया और गुजराती में यह लड़ाई इस नाम से अभिहित होने लगी।

'सत्याग्रह' मनुष्य का एक मूल्य है, एक जीवन-पद्धति है, परिवर्तन का एक ऐसा मार्ग है जिसमें हिंसा के लिए कोई जगह नहीं है। सत्याग्रह प्रेमपूर्ण व्यवहार है क्योंकि यह अन्य में विद्यमान मनुष्यता की भावना की पहचान पर आधारित है चाहे फिर वह दमनकर्ता ही क्यों न हो। इसका आधारभूत विचार है कि सभी मनुष्य अंतिम रूप से परदुःख की अनुभूति करने में और सही तरीके से उसे हटाने में भी सक्षम हैं। गांधी कहते हैं 'मनुष्य जाति में कुछ तो अच्छाई है ही'। सत्याग्रह केवल दमित एवं दमनकर्ता के बीच ही नहीं बल्कि उन दोनों की मनुष्यता के बीच भी संवाद है। जब दोनों इस आधारभूत विचार को समझ कर कार्य करते हैं तब सत्याग्रह संभव हो जाता है।

सत्याग्रह की एक पश्चिमी विरासत है जिसके शीर्ष पर लियो तोल्सतोय, जॉन रस्किन और हेनरी डेविड थोरो मौजूद हैं। तोल्सतोय की आत्मकथा 'किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन अस' का अध्ययन किए बिना गांधी अहिंसा का शास्त्र नहीं रच सकते थे। रस्किन की रचना 'अनटु दी लास्ट' के बिना वे अंत्योदय और सर्वोदय का सिद्धांत सूत्रबद्ध नहीं कर सकते थे। इसी तरह थोरो की रचना 'एसेज ऑन द ड्यूटी ऑफ सिविल डिसेअबिडिएंस' की प्रेरणा के बिना सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा या सविनय प्रतिरोध की अवधारणा का ऐसा विकास नहीं हो सकता था।

सरल शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि गांधी का सत्याग्रह का सिद्धांत यही था कि यह मेरा सच है, मैं इससे पीछे नहीं हटूंगा। आप इसके लिए चाहे जो सजा दे दीजिए, लेकिन मेरा सच यही है। एक व्यक्ति के स्तर पर अपने सच के लिए लड़ने-मरने को तैयार हो जाना बहुत बड़ी बात है। व्यक्तित्व की दृढ़ता इसी सच के स्रोत से आती है। यह सच्चाई है अन्तःकरण की, जो आत्मबल प्रदान करती है और यह

आत्मबल ही गांधी का राजनीतिक अस्त्र है। यह समझना आसान है कि आत्मा का बल शरीर के बल से अधिक श्रेष्ठ है। बुराई के प्रतिकार के लिए लोग यदि आत्मा के बल का सहारा लेना शुरू कर दें तो बहुत सी मौजूदा परेशानियां दूर की जा सकती हैं। स्पष्ट है कि गांधी के अनुसार अहिंसात्मक उपायों का सहारा लेते हुए सदैव सत्य पर दृढ़ रहना और वचन तथा कर्म से उसी के अनुसार आचरण करना ही सत्याग्रह है। गांधी के इस कथन में तीन चीजें छुपी हुई हैं—सत्य, अहिंसा और इन्हें पाने के लिए किया जाने वाला त्याग और तपस्या। गांधी ने इन तीनों के परम्परागत अवधारणाओं को व्यवस्थित किया और उसमें एक नया अर्थ भर दिया।

गांधी ने भारतीय परम्परा से आती हुई सत्य सम्बन्धी धारणा को एक नया संस्कार, नया आयाम प्रदान किया। गांधी के अनुसार सत्य मानव मात्र के लिए अनिवार्य धर्म है। इसी कारण सत्य केवल चिंतन और मनन की वस्तु नहीं, व्यवहार और आचरण की वस्तु है। साबरमती आश्रम के वासियों को सम्बोधित करते हुए गांधी ने कहा था कि सत्य का मतलब इतना ही नहीं है कि रोज के व्यवहार में असत्य न बोला जाए या असत्य का आचरण न किया जाए। गांधी ने सत्य और अहिंसा को जीवन के लिए आवश्यक फेफड़े के समान बताया है “Ahimsa and Satya or Non-Violence and Truth are my two lungs. I can't live without them. Truth is my religion and Ahimsa is the only way of its realization. My religion is based on Truth and Non-Violence. Truth is my God.” गांधी के सत्य सम्बन्धी ये विचार भारतीय परम्परा से आये विचार हैं। कहा गया है ‘सत्यमेव जयते नानतम’ तथा ‘नास्ति सत्य समो धर्मो’। गांधी के प्रिय कवि तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में लिखा है ‘धर्म न दूसर सत्य समाना’।

गांधी की अहिंसा की अवधारणा परम्परागत भारतीय सामाजिक और धार्मिक अहिंसा की अवधारणा से अलग है। जिस अर्थ में गांधी अहिंसा की बात करते हैं वह मानवीय विचार के इतिहास में सर्वथा अभूतपूर्व और मौलिक है। गांधी की अहिंसा केवल परम्परा से चली आ रही धार्मिक अहिंसा का विस्तार भर नहीं है। संसार के सभी धर्म अहिंसा के महत्त्व को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु आदर्श रूप में, एक साध्य के रूप में ही। इसके ठीक उलट गांधी इसे एक साधन मानते हैं, साध्य नहीं। सफलता के लिए हिंसा का शार्टकट अपनाने में वे विश्वास नहीं करते —“मेरा रास्ता लम्बा, बहुत लम्बा लग सकता है किन्तु मैं आश्वस्त हूँ कि यह सबसे छोटा रास्ता है। लक्ष्य तमाम तरह के क्रियाकलापों की शृंखला के परिणामस्वरूप आता है। इसलिए साधन और साध्य में कोई आत्यंतिक भेद नहीं है। साध्य मैं नहीं जानता, मेरे लिए तो साधन के बारे में जानना ही काफी है। मेरे जीवन दर्शन में साधन—साध्य परस्पर

परिवर्तित होने वाली अवधारणाएं हैं।” कहने की आवश्यकता नहीं है कि साधन साध्य को प्रभावित—परिवर्तित करते हैं। अनैतिक साधन से नैतिक साध्य के जन्म की उम्मीद नहीं की जा सकती।” गांधीजी ने इस तर्क की निन्दा की कि साध्य प्राप्ति के लिए कोई भी साधन उचित है। कोई पश्चिम की ओर चलकर पूर्व की ओर नहीं पहुंच सकता। उन्होंने साधन की तुलना बीज से और साध्य की वृक्ष से की है। जैसा बीज है वैसा ही वृक्ष उगता है। नीम के वृक्ष से आम का वृक्ष और फल नहीं होगा। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा — “If I want to deprive you of your watch, I shall certainly have to fight for it; if I want to buy your watch, I shall have to pay for it; and if I want a gift, I shall have to plead for it; and according to the means I employ, the watch is stolen property, my own property or a donation.”

गांधी कर्मयोग और अनासक्ति भाव में विश्वास रखते थे। कर्म के प्रसंग से गांधी गीता का अनुसरण करने वाले व्यक्ति थे। गांधी का यह विचार पूर्णतया भारतीय परम्परा से ही आया है। भारतीय परम्परा में चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से अर्थ और काम भौतिक मूल्य हैं, धर्म एक नैतिक मूल्य है और मोक्ष आध्यात्मिक मूल्य। हमारे नैतिक मूल्य हमें भौतिक मूल्यों की प्राप्ति कराते हैं और उन्हें स्थायी बनाए रखते हैं। इसलिए कहा गया है कि धर्म से ही अर्थ और काम दोनों की ही सिद्धि होती है। गांधी का साध्य—साधन सम्बन्ध इसी से प्रेरित है। उन्होंने बताया कि हिंसा की निन्दा इसलिए होनी चाहिए कि वह एक अपवित्र साधन है। डर और हिंसा के बल पर पायी जाने वाली जीत तभी तक कायम रहती है जब तक डर कायम रहता है। इसी से हम समझ सकते हैं कि गांधी की अहिंसा वृत्ति नकारात्मक न होकर सकारात्मक है। पहले ‘नी वो जीवस्य, जीवनम्’ का युग था। बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर जीती थी। बाद में ‘जीयो और जीने दो’ का युग आया। यह भी गांधी की अहिंसा नहीं है। खुद जीयो और दूसरे को जीने में मदद करो, यह उस अहिंसा का अधिष्ठान है। गांधी की अहिंसा दुर्बल की अहिंसा नहीं है वह दृढ़ और सबल लोगों का अस्त्र है। उनके अनुसार अहिंसा शक्ति को नहीं हथियाती, वह शक्ति चाहती भी नहीं, शक्ति तो उसे प्राप्त हो जाती है। उनका मानना था कि मानव जाति को हिंसा से छुटकारा अहिंसा के द्वारा ही मिल सकता है। घृणा के बदले घृणा करने से घृणा का ही विस्तार होता है, प्रेम का नहीं।

हिंसा का प्रयोग हमें स्मृतिलोप की ओर ले जाता है। हिंसा दृढ़ता और शक्ति को प्रकट नहीं करती, मजबूरी को प्रकट करती है। गांधी से सम्बन्धित एक व्याख्यान में पुरुषोत्तम अग्रवाल ने इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि “मैं आज तक किसी ऐसे व्यक्ति, विचार या सत्ता के सम्पर्क में नहीं आया हूँ जिसने हिंसा करते हुए ये न कहा

हो कि हम तो हिंसा के लिए मजबूर थे। राज्यसत्ता हिंसा करती है क्योंकि उसे व्यवस्था बनाए रखने की मजबूरी है। क्रांतिकारी हिंसा करते हैं क्योंकि राज्यसत्ता ने उन्हें विवश कर दिया है उन्हें मजबूर कर दिया है कि वो हिंसा करें। अध्यापक हिंसा करते हैं क्योंकि बिना हिंसा और अनुशासन के बच्चों को सिखाया नहीं जा सकता। बच्चे हिंसा करते हैं क्योंकि हिंसा के बिना समाज सुनने को तैयार नहीं है। हर हिंसक व्यक्ति और विचार अपने आपको परिस्थितियों के मजबूर दास के रूप में प्रस्तुत करके ही अपने नैतिक संकट का समाधान कर पाता है।” इस अर्थ में हिंसा तभी सम्भव है जब संवाद के सभी रास्ते बंद हो गए हों, जब दोनों ही पक्षों में एक-दूसरे के प्रति सम्मान और विश्वास की भावना का लोप हो गया हो।”

गांधी का विश्वास था कि आपसी बातचीत तथा विचारों के आदान-प्रदान से ही झगड़ों को निपटाया जा सकता है। गांधी का सत्याग्रह उनकी इस मान्यता को पुष्ट करता है। सत्याग्रह के माध्यम से एक ऐसे समाधान पर पहुंचने की कोशिश होती है जिसमें दोनों ही पक्षों के आत्मसम्मान और परस्पर-सम्मान दोनों की ही एक साथ रक्षा होती है। सत्याग्रही की चेष्टा प्रतिपक्षी पर विजय पाने की न होकर दोनों ही दृष्टिकोणों को स्वीकार कर एक संवादी मार्ग निकालने की होती है। दूसरों के अस्तित्व, उपस्थिति, कार्य और उपयोगिता को स्वीकार करने वाला ही व्यक्ति और समाज के मध्य सामंजस्य कर सकता है। सत्याग्रही अपने विपक्षी को भी अपना पक्ष रखने का हर अवसर देता है और उसे आमंत्रित करता है कि वह अपनी राय भी जाहिर करे। इस तरह से वह सत्याग्रही इस बात के लिए भी हमेशा तैयार रहता है कि प्रतिपक्षी से संवाद करते समय वह अपने मत पर भी पुनर्विचार कर सकता है, उसे बदल सकता है। इस कोशिश से यह बात निकलकर सामने आती है कि सत्याग्रही की चेष्टा प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करने के बदले उस स्थिति पर ही विजय पाने की होती है। सत्याग्रही हमेशा यह चाहता है कि बुराई को अच्छाई से, घृणा को प्रेम से, असत्य को सत्य से और हिंसा को अहिंसा के माध्यम से परिष्कृत किया जाय। गांधी के अनुसार मनुष्य की अच्छाई में सत्याग्रही का मूल रूप से विश्वास होना चाहिए। उसमें विवेक या आत्मा की आवाज को पहचानने की क्षमता होनी चाहिए और उसे एक ऐसा विकल्प खोजने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए जो सभी को स्वीकार्य हो। गांधी का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में स्नेह, मैत्री, उदारता, करुणा आदि सद्भावनाएं अवश्य विद्यमान रहती हैं। उनका मानना था कि चूंकि कोई भी व्यक्ति स्वभावतः बुरा नहीं होता, इसलिए हमें व्यक्ति-विशेष से घृणा नहीं करनी चाहिए।

गांधी का सत्याग्रह इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि किसी भी स्थिति में आत्मा के बल का आश्रय किसी अन्य व्यक्ति को पीड़ा नहीं पहुंचाता। इसलिए जब भी इसका

दुरुपयोग किया जाता है, यह केवल इसके प्रयोगकर्ता को हानि पहुंचाता है, उसको कभी नहीं जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया गया है। सद्गुण की भाँति, यह अपना पुरस्कार स्वयं है। आत्मा के बल के इस्तेमाल में असफलता की कोई गुंजाइश ही नहीं है। 'हिन्द स्वराज' में गांधी ने इस प्रसंग में लिखा है "एक आदमी भी सत्याग्रही हो सकता है और लाखों लोग भी हो सकते हैं। मर्द भी सत्याग्रही हो सकता है; औरत भी हो सकती है। उसे अपना लश्कर तैयार करने की जरूरत नहीं रहती। उसे पहलवानों की कुश्ती सीखने की जरूरत नहीं रहती। उसने अपने मन को काबू में किया कि फिर वह वनराज सिंह की तरह गर्जना कर सकता है। सत्याग्रह ऐसी तलवार है, जिसके दोनों ओर धार है। उसे चाहे जैसे काम में लिया जा सकता है। जो उसे चलाता है और जिस पर वह चलाई जाती है, वे दोनों सुखी होते हैं। वह खून नहीं निकालती, लेकिन उससे भी बड़ा परिणाम ला सकती है।" सत्याग्रह की विशिष्टता यह है कि इसमें वस्तुतः एक ही पूर्ण प्रतिरोधकर्ता बुराई के विरुद्ध अच्छाई की विजय के लिए काफी है।

गांधी ने सत्य और अहिंसा की साधना के लिए त्याग और तपस्या पर बहुत बल दिया है। गांधी के अनुसार सत्याग्रही की आत्मशुद्धि भी अनिवार्य है। सत्याग्रह आरम्भ करने से पूर्व ही सत्याग्रही को अन्याय, क्रोध, लिप्सा आदि बुराईयों से मुक्त हो जाना चाहिए। इसके लिए सत्याग्रही में आत्मत्याग, आत्मसंयम जैसे गुणों का विकास होना चाहिए। त्याग भोग की विपरीत वस्तु है। भोग का परिणाम है नाश किन्तु त्याग का परिणाम है जीवन। मनुष्य जीवन का सदुपयोग करने के लिए त्याग और तपस्या की आवश्यकता है। तपस्या, गांधीजी के विचार में एक जीवन-पद्धति और जीवन की कला है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे तपस्या से प्राप्त न किया जा सके। कहा गया है — "तप बल रचइ प्रपंच विधाता, तप बल विष्णु सकल जग त्राता"। गांधी ने आत्मशुद्धि और आत्मसंयम के लिए उपवास का मार्ग अपनाया था। उपवास में एक साथ त्याग और संयम दोनों ही गुण समाहित होते हैं।

इस रूप में गांधी का सत्याग्रह दुर्बल मनुष्य का शस्त्र नहीं है, वह सबल मनुष्य का जीवन-मूल्य है—

सत्याग्रह का शस्त्र, विश्व इतिहास अनोखा,  
उभय पक्ष को कभी न कोई रहता धोखा।  
गांधी ने वह दिया युद्ध की कटुता काटी  
विजित विजेता बीच भविष्यत्—मैत्री बांटी।।

\*\*\*\*\*

## माध्यम, मूल्य, मीडिया और मानव का मूल्यांकन

श्यामलेन्दु रंजन\*

हमारे रोजमर्रा की जिन्दगी में 'म' शब्द का बड़ा महत्त्व है। हम सृष्टि में आने के बाद पहला शब्द 'म' से ही उच्चरित करते हैं — 'माँ'। वही मानव, मूल्य, मांग, मनोरंजन, मानसिकता आदि शब्द हमें पता भी नहीं होता, हम कितनी ही बार बोल जाते हैं। इसी सुगम अक्षर 'म' से निकला हुआ शब्द है— मीडिया। जिसका शाब्दिक अर्थ होता है — 'माध्यम'। यानी आमजन और सत्ताजन के बीच की वो कड़ी जो दोनों की दूरियां कम करती हो या एक ऐसा हिस्सा, जिसकी पहुँच सत्ताजन तक हो और वहां तक आमजन की पहुँच हो। और साफ शब्दों में कहें तो एक ऐसा अनुवादक जो तथ्यों का अनुवाद 'डायरेक्ट स्पीच' में करता हो।

आज मीडिया के कई रूप हमारे समक्ष विद्यमान हैं—जैसे टेलीविजन, इण्टरनेट—वेबसाइट्स, रेडियो और अखबार। जिनके माध्यम से अपने विभिन्न रूपों में ये हमारे आस-पास, हमारे घरों में, दिल-ओ-दिमाग में छाये हुए हैं। कोई ये नहीं कह सकता कि मैं मीडिया से अलग हूँ या मीडिया की पहुँच मुझसे दूर है। आपकी नजर जहाँ तक जाती है या देख पाती है, मीडिया उससे कोसो दूर ज्यादा देखता है और आपके दिमाग की अपेक्षा कई गुना ज्यादा सोचता भी है। लेकिन सारी बातों का 'लब-ओ-लुआब' आ कर यहीं ठहर जाता है कि मीडिया कितनी सार्थक है यानी मीडिया आमजन के लिए कितना लाभप्रद है।

उसका मानवीय मूल्यों से सरोकार कम क्यों हुआ? मीडिया के वर्तमान हालातों के पीछे का कारण क्या है? क्या मीडिया अपने पुराने कलेवर को पुनः पा सकेगा? जिसके चलते इसका इतना मान-सम्मान था। वो मीडिया, जिसने देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया था। वो मीडिया कहाँ गया? जिसने विश्वबन्धुत्व की राह बनायी थी। सामाजिक विषमता को पाटने के लिए अपने रुख कड़े किये थे। आज इस बाजारीकरण के दौर में ये प्रश्न उठाये जाने चाहिए।

सचमुच ये प्रश्न आज बड़े-बड़े यक्ष प्रश्नों का रूप ले चुके हैं, क्योंकि आज मीडिया भी बाजारीकरण की इस व्यवस्था में बिलकुल बाजारु बन चुकी है। सत्ता, समाज और बाजारवाद पर चर्चा करते हुए, एक बड़े पत्रकार-लेखक कुमार विमल ने भी मीडिया के बाजारु संबंध और रवैये की बड़े तफ्तीश से पड़ताल की है। कुमार विमल ने अपनी पुस्तक 'सत्ता, समाज और बाजारवाद' में खुद मीडियामैन होते हुए भी ये दर्शाया है कि सत्ता और समाज के बीच बाजारवाद को बढ़ाने में मीडिया का कितना बड़ा योगदान है; और स्वयं साधन बना हुआ मीडिया भी बाजारवाद की आत्मा 'मुनाफे' के चपेट में आने लगा है। अब मीडिया कंपनियों में भी 'कार्पोरेट-कल्चर' शुरू हो चुका



है। मीडिया का मूल्य अब ज्यादा से ज्यादा 'मुनाफा' कमाने में बदल चुका है। मतलब कि मीडिया का मूल्य अपने मूल सिद्धांत से बगावत कर बैठा है।

वृंदावन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1925 में, पत्रकारिता के पितामह स्व० बाबूराम विष्णु पराड़कर जी का अध्यक्षीय भाषण हुआ, जो पूर्णतया पत्रकारिता के उस वक्त के भविष्य यानी आज के वर्तमान से संबंधित था। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि "आगे चलकर पत्र सर्वांग सुन्दर होंगे, आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी, मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, कल्पना होगी, गंभीर गवेषणा की झलक होगी और अत्यन्त मनोहारिणी शक्ति भी होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जायेगी—यह सब होगा, पर पत्र प्राणहीन होंगे। पत्रों की नीति न होगी। पत्रों की नीति देशभक्त, धर्मभक्त अथवा मानवता के उपासक महाप्राण संपादकों की नीति न होगी—इन गुणों से संपन्न लेखक या पत्रकार विकृत—मस्तिष्क समझे जायेंगे, संपादक की कुर्सी तक उनकी पहुंच भी न होगी। वेतनभोगी संपादक मालिक का काम करेंगे, वे हम लोगो से अच्छे होंगे, पर आज भी (यानी गुलामी में भी) हमें जो स्वतंत्रता प्राप्त है, उन्हें न होगी। वस्तुतः पत्रों के जीवन में यही समय बहुमूल्य है।"

इंग्लैण्ड और अमेरिका के पत्रों ने उन्हीं दिनों सच्चा काम किया था, जब उनके आकार छोटे थे, समाचार कम होते थे, ग्राहक भी थोड़े ही थे। लेकिन संपादक की लेखनी में ओज था और प्राण था। इन देशों की उन्नति के बहुत कुछ कारण वे ही संपादक थे। जिनसे धनी घृणा करते थे, शासक क्रुद्ध रहा करते थे और जो हमारे ही जैसे, एक पैर जेल में रखकर धर्मबुद्धि से पत्र संपादन किया करते थे। उनके परिश्रम से और कष्टों से पत्रों की उन्नति हुई, पर अफसोस उनके वंशजों का लोप हो गया। अब संचालन और व्यवस्थापक सर्वेसर्वा हैं, संपादक कुछ नहीं हैं। इस इतिहास से हमें उपदेश ग्रहण करना चाहिए। समय रहते सावधान हो जाना चाहिए और इस अवसर का ऐसा सदुपयोग करना चाहिए कि भावी पीढ़ियां प्रेम के साथ हमारा स्मरण करें।"

अपनी जगह पितामह पराड़कर जी की भी बातें काफी हद तक प्रासंगिक हैं, किन्तु इस 21वीं सदी में जहाँ उत्तर-आधुनिकता ने अपने पांव जमा लिए हो, जहां सब्जियां, मंडियों की जगह मॉल्स में मिलने लगी हो। ऐसे हालात में संपादक या सिस्टम का कोई भी सदस्य क्या करें ? मूल्य चुका के सामान लें और सिस्टम के मूल्यों से समझौता कर लें या पुराने मूल्यों पर अडिग रहें और फिर मूल्य चुकाने लायक न रहें। आखिरकार ये पत्रकार नामक प्राणी परलोक का तो है नहीं। ये भी इसी लोक का रहने वाला है। ऐसे में वरिष्ठ पत्रकार रामशरण जोशी की बातें सही जान पड़ती हैं। जोशी जी बड़े बेबाक स्वर में कहते हैं—

"पत्रकारिता में अब मिशन की भावना नहीं रही और यह संभव भी नहीं।"

पत्रकार चाहे वो अंग्रेजी का हो या हिन्दी का, चाहे टी0वी0 का हो या रेडियो का। उससे यह अपेक्षा करना कि वह गणेश शंकर विद्यार्थी की तरह चने चबाकर, फटी चप्पलें पहनकर पत्रकारिता करेगा, वह भी अतिउपभोक्तावादी युग में तो, मैं समझता हूँ, उसके प्रति अन्याय होगा। पत्रकार से मिशनरी होने की अपेक्षा अब नहीं की जानी चाहिए। वह भी उतनी ही सुविधाओं का अधिकारी है, जो कोई और हो सकता है।”

यहां स्पष्ट तौर पर कुछ बातें सामने आती हैं, जो वर्तमान पत्रकारिता के मानदण्ड और मूल्य तय करती है। पत्रकार भी उतनी ही सुविधाओं का अधिकारी है जो कोई और हो सकता है। पत्रकारिता के व्यवसाय के अनुरूप पत्रकार को न्यूनतम सुविधायें मिलनी ही चाहिए, पर दिक्कत तब पेश होती है, जब पत्रकार को एक न्यूनतम जीवन और न्यूनतम सुविधाएं प्राप्त नहीं होती। विशेष रूप से क्षेत्रीय पत्रकारों की स्थिति बद् से बदतर है। इसके अतिरिक्त अखबारपति, सम्पादक या संवाददाता को बार-बार गलत-सलत काम करने को बाध्य करता है। तब उसमें भी स्वाभाविक इच्छा पैदा हो जाती है कि वह गैर पत्रकारीय कार्यों से धन कमाये और यही से लाइजनिंग या चालू भाषा में कहें तो दलाली का सिलसिला शुरू हो जाता है।”

आज भी ये हालात अंग्रेजी या पत्रकारिता की उतनी नहीं है, जितनी की हिन्दी पत्रकारिता में देखने को मिलती है। कारण यही है कि उनकी आर्थिक संरचना थोड़ी सुदृढ़ होती है। जिसके बदले वह यहां मूल्यवान बन जाते हैं या उनका सोफिस्टिकेशन उन्हें बचा ले जाता है।

दूसरी ओर मार्शल मैकलुहान ने टी0वी0 के बाबत यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है— “माध्यम ही संदेश है” (मीडिया इन द मेसेज)। उन्होंने धार्मिक पुरोहितों की तरह वैश्विक स्तर पर (वैश्विक गांव), ‘एक-दिमाग अनुभव या दिमागों के एकीकरण की बात की और साधन (रूप) को ही साध्य (अन्तर्वस्तु) बता दिया। क्योंकि टी0वी0 से प्रसारित समाचार या अन्य कार्यक्रम इतना आकर्षक और प्रत्यक्षवेधी होता है कि उसकी शैली ही संदेश बन जाती है।

आजकल इतनी मूल्यवान प्रतिनिधि वस्तु का प्रयोग, भारतीय मीडिया अर्थशास्त्र के मूल्य के ह्रास का सूचक बनता चला जा रहा है। मुम्बई हमले में 185 लोग मारे गये, जबकि अमेरिका में 9/11 हमले में 2500 से 3000 लोग मारे गये। लेकिन वहां मीडिया ने न तो खून और न कोई शव दिखाया। जबकि अपने यहां तो हर शव का ब्यौरा ‘ब्रेकिंग न्यूज’ बनाकर चलाया गया। ये समझने की जरूरत कतई नहीं महसूस की गयी कि ताज या ओबराय पर हमले से आतंकी जो न हासिल कर पाये, उसे हमारे चैनलों ने पार बैठे दुश्मनों को हासिल करा दिया।

आज ऑल इंडिया रेडियो हो या निजी एफ0एम0 चैनलस् ही एक मात्र मीडिया पार्ट है, जहाँ मूल्य अभी बचे हुए हैं। दैनिक भास्कर ग्रुप के रेडियो चैनलस् 94.3 माई

एफ. एम. के सी0ई0ओ0 श्री हरीश एम0 भाटिया का मानना है कि “धन कमाना जरूरी है, मगर मानवीय मूल्यों से समझौता कर कतई नहीं। क्योंकि मीडिया आवाम के लिए है और वो मूल्य आवाम के ही है।”

बहरहाल मीडिया के मूल्य बदल चुके हैं, अब ये मूल्य, मानवता के बाजार मनी और मनोरंजन बन चुके हैं। संविधान के चौथे स्तम्भ में ‘चार सी’ (‘फोर सी’) का फार्मूला काफी प्रचलित हो चुका है। सिनेमा, क्रिकेट, कॉमेडी और क्राईम पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा है। मतलब मूल्य से नहीं है। श्री भाटिया फक्र से कहते हैं कि कोई बुरा भले बोल दें, बुरा देख लें, पर कोई बुरा सुनना नहीं चाहता। शुक्र है हम सुनने वाले मीडिया है।

निष्कर्षतः गलती अगर सिस्टम की है तो हमारी भी है। चाहे हम इससे लाख नजर चुरा लें।

#### सन्दर्भ ग्रन्थ :-

1. पराड़कर जी के लेख/सीडियां
2. जोशी, रामशरण. लेख
3. कुमार, विमल. सत्ता, समाज और बाजारवाद
4. नारायण, लक्ष्मी. पत्रकारिता के नए आयाम
5. मैकलुहान, विगनिंग मीडिया
6. समयांतर, जनमत और ज्ञानोदय, आदि पत्रिकाएँ

\*\*\*\*\*

## जीवन मूल्य और हमारा दायित्व

धर्मजंग\*

राजीव कुमार वर्मा\*

महाभारत में कहा गया है—‘नहिं मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित’<sup>1</sup> अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। संसार में जो भी जीव हैं, उसमें मनुष्य का स्थान सर्वोपरि है। परन्तु मनुष्य/मानव जन्म से श्रेष्ठ न होकर कर्म से श्रेष्ठ है। कर्म ही मनुष्य को महान बनाता है। जगत कर्म के कारण ही नानारूपात्मक है। स्वर्ण और आभूषण के बीच की कड़ी स्वर्णकार का कर्म है। इसी प्रकार मनुष्य भी प्रकृति प्रदत्त बौद्धिक-शारीरिक शक्ति द्वारा कर्मरत होकर इस जगत को सुन्दर और सुखप्रद बना सकता है। हिन्दी के श्रेष्ठ छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद ने ‘कामायनी’ महाकाव्य में मानव मात्र के कल्याण के लिए मनुष्य को कर्म करने के लिए प्रेरित किया है। उन्होंने लिखा है—

“कर्म का भोग भोग का कर्म, यहीं जड़ का चेतन आनन्द।

अथवा, यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म रंग स्थल है।”<sup>2</sup>

यहाँ उन्होंने दिखाया है कि मानव को अपने जीवन में कर्म के प्रति सचेत रहना चाहिए। बिना कर्म के किसी प्रकार का आनन्द या सुख की प्राप्ति संभव नहीं है। पर इसके लिए आवश्यक है कि वह प्रकृति प्रदत्त कुछ नैतिक नियमों का भी अनुपालन करे, जिन्हें हमारे बौद्धिक ग्रन्थों में ‘ऋत्’ नाम दिया गया है। इन ऋत् या नैतिक नियमों का निर्माण हमारे प्राचीन मनीषियों ने प्रकृति के स्वभाव का गहन अध्ययन करने के पश्चात् किया है। ये नियम अनिवार्यतः अनुलंघनीय हैं। प्रकृति प्रदत्त कुछ ऐसे गुण हैं जिन्हें प्रकृति ने केवल मानव-मात्र को ही प्रदान किया है। ये गुण ही मानव को उदात्त बनाने में मदद करते हैं। इसीलिए कहा भी गया है कि —

“येषाम् न विद्या न तपो न दानम्  
ज्ञानम् न शीलम् न गुणो न धर्मः ।  
ते मर्त्य लोके भुवि भारभूता  
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥”<sup>3</sup>

आज इन्हीं नैतिक गुणों एवं नियमों के उल्लंघन का परिणाम है कि मानवीय समस्याओं ने विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया है और आज करोड़ों लोग दो वक्त की रोटी के लिए मुहताज हैं; यहाँ तक कि प्रकृति प्रदत्त स्वच्छ हवा, स्वच्छ जल तक प्राप्त करना दुरुह हो गया है। इतना ही नहीं समाज के सभी क्षेत्रों में यथा-राजनीति, साहित्य, कला, संस्कृति, फिल्म, शिक्षा, व्यापार, विवाह, खेल, धार्मिक कर्मकाण्ड,

\*मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

न्यायिक व्यवस्था, प्रशासन और विशेषरूप से स्त्री-पुरुषों के आचरण में नैतिक मूल्यों का क्षरण चिन्ता का विषय है। आज प्रकृति और मनुष्य के बीच का सह-संबंध संकट में है, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता है। अतः यह सोचना आवश्यक है कि इस संकट से अपनी समाज व्यवस्था को, इस विश्व व्यवस्था को कैसे बचाया जाए?

प्रत्येक व्यक्ति जन्म के समय निरीह प्राणी होता है और अच्छे मनुष्य के रूप में उसकी पहचान तभी बनती है जब वह श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों को अपने जीवन में आत्मसात करता है। इन्हीं जीवन-मूल्यों से व्यक्ति की आत्मा का उत्थान होता है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने 'श्रीरामचरितमानस' में कहा है कि—

**पर हित सरिस धरम नहिं भाई,  
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।**

भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुसार सारा संसार ईश्वरमय है (ईशावास्यमिदं सर्वम्)। यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति सबको अपना परिवार या कुटुम्ब मानता है। वह किसी को कष्ट नहीं देना चाहता। दूसरों का कल्याण करना अपना धर्म मानता है। लेकिन आज आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण मनुष्य स्वार्थी हो गया है। स्वार्थ ही मनुष्य को मूल्य-विहीन बना रहा है। मूल्य विहीन जीवन आज के बढ़ते तनाव का कारण है क्योंकि मूल्यों के बिना व्यक्ति भीतर से खोखला होता जा रहा है। जीवन में श्रेष्ठ एवं उच्च मूल्य न होने के कारण उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति कम होती जा रही है और आज का मानव चिन्ताओं के जाल में फँसकर छटपटा रहा है।

अब यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि इसका निदान क्या है? स्पष्ट रूप से उत्तर यही दिया जा सकता है कि विद्यालयों, विश्वविद्यालयों व जीवन के समस्त सामाजिक क्षेत्रों में मूल्योन्मुख शिक्षा का शिक्षण आरम्भ किया जाए। आज भौतिक लालसा की अंधी दौड़ में हम सबका सबसे कम ध्यान शायद इसी प्रकार की शिक्षा की तरफ है, यद्यपि यह सर्वाधिक आवश्यक है। आज भी महामना मदन मोहन मालवीय जी के वचन छात्रों के लिए सर्वाधिक प्रासंगिक हैं—

**सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया ।**

**देशभक्त्यात्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भवः ॥**

अर्थात् सत्य, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, व्यायाम, विद्या अध्ययन, देशभक्ति एवं आत्म त्याग से मानव सदा सम्मान के योग्य बनता है। मानवता मानव का सहजगुण होना चाहिए, तभी वह अपना जीवन सार्थक कर सकता है।

इन जीवन मूल्यों के लिए 'संकीर्ण स्वार्थों' के विसर्जन की भावना और 'नीतिग्रन्थ' के "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु या कश्चिद् दुःखभाग्मवेह भवेत्॥" भाव की धारणा सर्वप्रथम और सर्वाधिक आवश्यक

है। इसी में मानव के समस्त जीवन मूल्य छिपे हुए हैं। इन्हीं जीवन मूल्यों के सूत्रों में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र 'संवेदनशीलता' का है। बिना संवेदनशील हुए न तो हम मूल्य संकट के वर्तमान संदर्भ को समझ सकते हैं और न ही उसके निराकरण के लिए किन्हीं उपायों पर विचार कर सकते हैं। हमें स्वयं और अपने परिवारजनों को, विशेषकर बच्चों को क्योंकि वे भविष्य के सारथी हैं, अपनी संस्कृति, अपने परिवेश, अपने देश और इस सम्पूर्ण चराचर प्रकृति के प्रति संवेदनशील एवं जागरूक बनाना है।

संस्कृति हमारी मानवीय संवेदनाओं को, हमारे अन्तर्मन को, उदात्त बनाती है। वैसे भी संस्कृति, मूल्य एवं शिक्षा का संबंध अन्योन्याश्रित है। यह हमें नैतिक—मूल्य मर्यादाओं से विभूषित करती है, हमारे सौन्दर्य—बोध को जगाती है और हमें जीवन जीने की कला सिखाती है। संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—“संस्कृति आन्तरिक वस्तु है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के आचार—विचार, उसके जीवन मूल्य, उसकी नैतिकता, संस्कार, आदर्श, शिक्षा, धर्म, साहित्य और कला का समावेश होता है, अतः संस्कृति एक व्यापक तत्त्व है।”<sup>4</sup> इस सांस्कृतिक प्रवाह को गतिमान बनाए रखना, उसमें आए विकारों को दूर करने का प्रयास करना, उसे और अधिक उत्कृष्ट और समृद्ध बनाने का प्रयत्न करना हमारा सामाजिक—सांस्कृतिक दायित्व है। अभिभावक के रूप में अपने बच्चों को इस प्रवाह से जोड़ना, उन्हें उनकी सांस्कृतिक विरासत को जानने समझने का अवसर दिलाना और उनकी सांस्कृतिक चेतना का विस्तार, परिष्कार करना हमारा प्रमुख दायित्व है।

भारतीय संस्कृति की विशेषता 'अनेकता में एकता' की रही है। परन्तु वास्तविक रूप में आज अनेकता अधिक दिखाई दे रही है और एकता का भाव क्षीण होता जा रहा है। भारतीयता के प्रति श्रद्धा—भाव कम, अपनी जाति, क्षेत्र, संप्रदाय आदि के प्रति व्यामोह अधिक दिखाई दे रहा है। ऐसे क्षुद्र विचार हमारे समाज और स्वयं व्यक्ति के दीर्घकालिक विकास के लिए घातक हैं। जहाँ हमें संविधान प्रदत्त मूल अधिकारों की बखूबी चेतना है, जिन्हें हम गाहे—बगाहे अपनी बातों में उद्धृत करते रहते हैं तो हमें अपने मूल कर्तव्यों का भी भली—भांति भान होना चाहिए और उनके अनुशीलन का प्रयास भी होना चाहिए।

हमारा यह दायित्व केवल मानव समाज तक ही सीमित नहीं होना चाहिए बल्कि इसका विस्तार प्रकृति के सभी जड़—चेतन तत्वों तक होना चाहिए। प्रकृति को केवल उपयोग की वस्तु न मानकर उसके प्रति भी प्रेम एवं संवेदनशीलता का होना अनिवार्य है। इसीलिए तो हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत ने आरंभिक काल में मानव प्रेम से ज्यादा प्रकृति प्रेम को अपनी कविता में महत्त्व दिया है—

“छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,  
तोड़ प्रकृति से भी माया,  
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?  
भूल अभी से इस जग को!”<sup>6</sup>

प्रकृति को केवल उपभोग की वस्तु मानने का दुष्परिणाम—हम आज बढ़ते प्रदूषण, घटती वन सम्पदा, विलुप्त होती जैविक प्रजातियों—के रूप में पाते हैं। इस संदर्भ में हमारी भारतीय दृष्टि पश्चिम की अपेक्षा अधिक जीवनदायिनी है क्योंकि हम स्वयं को प्रकृति का एक अंग मानते हैं, न कि उसका स्वामी। हम उसे आदर और श्रद्धा देते हैं; यहाँ तक कि सजीव देव के रूप में उसकी पूजा भी करते हैं। हमें प्रकृति से अपने इस भावनात्मक सहज संबंधों को और मजबूत बनाते हुए और इसका प्रसार करते हुए, कार्यात्मक स्तर पर भी उतरना होगा। प्रकृति के प्रति अपनी संवेदनशीलता का परिचय अपने दैनिक कार्यों के माध्यम से भी देना होगा।

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति जागरूक होने से धीरे-धीरे हमारे मन में भी सकारात्मक वृत्ति, सन्तोष व उत्साह का सृजन होता है, जो स्वयं के, परिवार के और सम्बद्ध अन्य लोगों के जीवन में विविध रंगों को भरता है, जिससे एक सबल, सशक्त एवं जीवन्त समाज का निर्माण होता है, जो सदैव प्रगति के पथ पर अग्रसर रहता है।

#### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. महाभारत, शान्तिपर्व
2. प्रसाद, जयशंकर. कामायनी, संजय बुक सेण्टर, वाराणसी
3. नीतिशतकम्, श्लोक संख्या—13
4. सिंह, राजकिशोर एवं उषा यादव. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
5. पंत, सुमित्रानन्दन. तारापथ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

\*\*\*\*\*

## प्राथमिक विद्यालयों में मूल्यपरक शिक्षा की प्रासंगिकता

राजेश कुमार\*

**भूमिका :-**

किसी देश का भविष्य उसके विद्यालयों की कक्षाओं में बनता है। यहीं बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक किसी व्यक्ति का मानसिक और बौद्धिक विकास होता है। यहीं वह समाजोपयोगी ज्ञान-कौशल सीखता है। युवा जन का कौशल और उसकी ऊर्जा सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधारशिला है। पर विकास का हमारा लक्ष्य केवल आर्थिक-सामाजिक उन्नति तक ही सीमित नहीं रह जाना चाहिए। हमारा उच्चतर लक्ष्य होना चाहिए एक सभ्य और मानवोचित समाज के आदर्शों की ओर बढ़ना। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए बौद्धिक क्षमता के साथ-साथ देश के भविष्य निर्माताओं की नैतिक, सांस्कृतिक और मानवीय मूल्य चेतना भी विकसित होनी चाहिए।

वर्तमान समय में देश आतंकवाद व नक्सलवाद की समस्या से जूझ रहा है और दिनोदिन हिंसात्मक घटनाएं बढ़ती जा रही हैं, जिसका कारण है लोगों में मानवीय मूल्यों का ह्रास होना।

प्राथमिक विद्यालय ही मनुष्य की शिक्षा का औपचारिक प्रथम सोपान माना जाता है। मूल्यों के विकास हेतु हमें प्राथमिक स्तर पर ही प्रयास करना चाहिए। जब बालक विद्यालय जाने लगता है तो मूल्य स्रोत शिक्षक, माता-पिता, परिवार, सामाजिक पर्यावरण एवं विद्यालयी पाठ्यक्रम हो जाते हैं। यहाँ मूल्य शिक्षा अनौपचारिक एवं औपचारिक दोनों रूपों में मिलती है। इस अवस्था में शिक्षकों को मूल्यों की शिक्षा हेतु प्रतिदिन कुछ समय निर्धारित कर कुछ सार्वभौमिक मूल्यों को लिखवाना एवं स्मरण करवाना चाहिए। साथ ही साथ सरल शब्दों में प्रवचन के रूप में समझाना भी चाहिए। इसके अलावा सामूहिक खेलों, सांस्कृतिक गतिविधियों एवं सामूहिक कार्यों के माध्यम से बालकों में मूल्यों के विकास का प्रयास किया जाना चाहिए। साथ ही साथ शिक्षकों को अपने व्यवहार को अनुकरणीय बनाने का प्रयास करना चाहिए।

**उद्देश्य :-**

प्राथमिक विद्यालयों में मूल्यपरक शिक्षा का उद्देश्य है बालकों में प्रारम्भिक मूल्य चेतना को जगाना। आज के समाज में जब माता-पिता एवं समाज के पास बच्चों पर केन्द्रित करने के लिए समय कम है, ऐसे में 'प्राथमिक विद्यालयी शिक्षा' मूल्य शिक्षा का एक सशक्त माध्यम बन सकता है। आज के दौर में भी कोई बालक अपने अध्यापक के व्यवहारों की ही नकल करता है, एवं अध्यापक द्वारा दी जाने वाली सूचना पर ज्यादा आस्था रखता है। अतः विद्यालयों की भूमिका विद्यार्थियों के मूल्य संवर्धन हेतु महत्वपूर्ण है।

---

\*शोध छात्र, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



### मूल्य एवं मूल्यपरक शिक्षा :-

‘मूल्य’ एक निर्णयात्मक शब्द है। इसका तात्पर्य सही-गलत, उचित-अनुचित, बुरा-अच्छा, ईमानदारी-बेईमानी, खुबसूरत-बदसूरत इत्यादि से है। इन्हें हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जोड़ सकते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य कुछ न कुछ व्यवहार दर्शाता है, परन्तु जिस तरह का व्यवहार परिवार या समाज अथवा राष्ट्र अथवा मानवता के सन्दर्भ में आपेक्षित है – उसे हम मूल्य की संज्ञा देते हैं।

छात्र वह बीज है जो अपने अन्दर समस्त मूल्यों के विकास को समेटे हुए है और शिक्षा वह परिवेश है, जो इस बीज को खाद-पानी देकर उसे विकसित होने का अवसर प्रदान करती है। इन दोनों के योगदान से ही मूल्यों का उद्भव हो सकता है।

हमारा संविधान नैतिक मूल्यों की अमूल्य निधि है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में जो मूल्य बताए गए हैं, उन्हें शिक्षा द्वारा ही छात्रों के जीवन में उतारा जा सकता है। वे मूल्य प्रजातंत्र, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, न्याय, सहिष्णुता, व्यक्ति की गरिमा, विचार और अभिव्यक्ति आदि हैं। ईमानदारी, उपकार, विनम्रता, अहंकार, निःस्वार्थता, समभाव, मन, वचन और कर्म की एकता के इन्हीं मूल्यों को बालक के जीवन में उतारना ही मूल्यपरक शिक्षा है।

### मूल्यों का वर्गीकरण :-

मूल्यों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। जब मनुष्य अपना जीवन प्रकृति के साथ जीता था, तब जीवन के मूल्य सरल थे। समुदाय में प्रेम, सहानुभूति तथा सहयोग आदि मूल्यों के रूप में स्वीकृत थे। शनैः-शनैः समाज का स्वरूप जटिल होता गया। जीवन को सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक आदि क्षेत्रों में बाँट दिया गया। इस सन्दर्भ में हम मूल्यों को निम्न वर्गों में बाँट सकते हैं –

1. **सामाजिक मूल्य** : ये मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को निर्देशित करते हैं यथा – भ्रातृत्व, सहयोग, सहानुभूति आदि।
2. **सांस्कृतिक मूल्य** : ये मूल्य संस्कृति को जीवित रखने में सहायक होते हैं। लोक कल्याण की भावना, वसुधैवकुटुम्बकम् की भावना, कर्तव्य परायणता हमारी भारतीय संस्कृति के अमर मूल्य हैं।
3. **धार्मिक मूल्य** : प्रत्येक धर्म के कुछ मूलभूत आदर्श व आचार के प्रतिमान होते हैं। उनका पालन उस धर्म के अनुयायियों के लिए आवश्यक होता है यथा-जैन धर्म में अहिंसा आधारभूत मूल्य हैं जो सभी जैनियों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इन्हीं धार्मिक मूल्यों में नैतिक मूल्य भी समाहित हैं।
4. **आर्थिक मूल्य** : आर्थिक मूल्य मनुष्य को आर्थिक क्षेत्र में दिशा-निर्देश देते हैं। ये मूल्य एक कसाई के लिए अलग होते हैं और एक मंदिर में नियुक्त पुजारी के लिए

अलग। पर दोनों आर्थिक क्षेत्र में आते हैं क्योंकि वे व्यक्ति के व्यावसायिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं।

**5. राजनैतिक मूल्य :** ये मूल्य व्यक्ति के राजनैतिक व्यवहार को निर्देशित करते हैं। राजनीति के क्षेत्र में कोई किसी का दुश्मन नहीं होता। किसी भी प्रकार से अपना लाभ व अपनी महत्वाकांक्षा की प्राप्ति किसी भी साधन द्वारा करना ही इकलौता राजनैतिक नहीं होना चाहिए।

**6. राष्ट्रीय मूल्य :** राष्ट्रीय मूल्यों का महत्त्व व प्रयोग आधुनिक युग की देन है। भारत जैसे देश के लिए इन मूल्यों का बहुत महत्त्व है। ये राष्ट्र के नागरिकों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं।

#### **प्राथमिक विद्यालय स्तर पर मूल्यपरक शिक्षा :-**

प्राथमिक विद्यालयों में मूल्यपरक शिक्षा, पाठ्यक्रम, पुस्तक, शिक्षक एवं विद्यालय के परिवेश के माध्यम से विभिन्न रूपों में क्रियान्वित होती है जो निम्न है -

#### **पाठ्यक्रम :-**

वर्तमान समय में विद्यालयों में मूल्य शिक्षा के सन्दर्भ में जो बिन्दु दृष्टिगोचर होने चाहिए उनका एक चित्रण राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में किया गया। इसमें एक ऐसी राष्ट्रीय पाठ्यक्रम संरचना की कल्पना की गई जिसके अन्तर्गत सम्मिलित किये जाने वाले तत्त्वों को सभी विषयों में समान रूप से पिरोना है। इनका उद्देश्य विद्यार्थियों में विभिन्न मूल्यों को विकसित करना है। जैसे - सांस्कृतिक विरासत, समता, प्रजातंत्र, पंथनिरपेक्षता, लिंग समानता, पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक बाधाओं को दूर करना तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास।

मूल्य शिक्षा किसी अलग विषय के रूप में नहीं देखी जानी चाहिए बल्कि उसको सभी विषयों में 'कामन कोर' (सामान्य केन्द्रिक) के रूप में समाहित किया जाना चाहिए। मूल्य शिक्षा पाठ्यक्रम निर्माण, विषयवस्तु चयन एवं उसके विद्यालयी परिवेश में व्यावहारिक रूप से उसके क्रियान्वयन पर निर्भर करता है।

#### **पुस्तक :-**

नियोजित पाठ्यक्रम के क्रियान्वयन में प्रथम महत्त्व पुस्तकों का है। अतः पुस्तक लेखन में विषयवस्तु का चयन एवं इसके अन्तर्गत तथ्यों का संकलन एवं प्रस्तुतिकरण पक्षपात रहित होना चाहिए। समाज के सभी वर्गों से सम्बन्धित तथ्यों को राष्ट्र एवं समाज के हित को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उदाहरण स्वरूप, समाज के महान व्यक्तियों के जीवन में घटित-घटनाओं का उल्लेख करना चाहिए।

#### **शिक्षक :-**

शिक्षक 'मूल्य शिक्षा' की धुरी है। वह विद्यार्थियों के जीवन की नींव तैयार करने वाला शिल्पी है। शिक्षक को कुम्हार व छात्र को मिट्टी का लौंदा कहा गया है। अतः

शिक्षक को स्वयं की गतिविधि एवं उसके द्वारा संचालित समस्त कार्यक्रमों (पाठ्यक्रम संबंधित एवं पाठ्येत्तर) में यह बिन्दु संज्ञान में रखना चाहिए। उसका प्रत्येक व्यवहार विद्यार्थी के लिए अंधेरे में उस प्रकाश बिम्ब के समान है जिसके आधार पर बालक अपना मार्ग ढूँढ़ता है। एक छोटी सी चूक भी पूरी धारा को विपरीत दिशा में मोड़ सकती है।

#### **विद्यालय का परिवेश :-**

विद्यालय प्रांगण में की जाने वाले प्रत्येक औपचारिक अथवा अनौपचारिक गतिविधि मूल्य संवर्धन में योगदान देती है। यथा – प्रातःकालीन सभा में क्रमबद्ध तरीके से उपस्थित होना, प्रार्थना का आयोजन, मौन व ध्यान, दैनिक चिन्तन (कहावतों, उक्तियों, कथनों के रूप में), शारीरिक स्वास्थ्य निरीक्षण, वेशभूषा निरीक्षण, राष्ट्रगान, सामाजिक मूल्य, महापुरुषों के जीवन की चर्चा तथा धार्मिक पुस्तकों में वर्णित मानवीय मूल्यों पर चर्चा होनी चाहिए जिससे बालक में मूल्यों का सर्वांगीण विकास हो सके।

#### **उपसंहार :-**

राष्ट्र और समाज के विकास के लिए शिक्षा ही प्रमुख साधन है जिसके द्वारा मानव में शिवत्व एवं विनाश दोनों की ही स्थितियाँ उपस्थित हो सकती हैं। कुशिक्षा स्वयं के लिए ही नहीं अपितु समाज और राष्ट्र के लिए भी हानिकारक होती है। वर्तमान संकटग्रस्त समाज को विद्यालय ही मूल्यों से ओत-प्रोत नागरिक दे सकते हैं एवं शिक्षक एक सशक्त नैतिक नेतृत्व प्रदान करने का कार्य कर सकता है।

वर्तमान समय में विश्व में बढ़ती हिंसात्मक घटनाएं, भूखमरी, बेरोजगारी से लोग एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ में अपने नैतिक मूल्यों को भूलते जा रहे हैं जो यह दर्शाता है कि हमारे मूल्यपरक शिक्षा में कहीं न कहीं कमी है, और बढ़ते बाल अपराध से यह स्पष्ट होता है कि किसी न किसी रूप में प्राथमिक विद्यालयों में मूल्यपरक शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है जो हमारी शिक्षा की नींव होनी चाहिए।

#### **सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-**

- Mookerji, R.K. 'Ancient Indian Education'.
- टण्डन व गुप्ता, उमा व अरुणा. 'उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक'।
- पाठक, पी०डी० 'भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं'।
- मूल्यविमर्श शोध पत्रिका, मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र (का०हि०वि०वि०), जनवरी, 2009।
- पाण्डेय, रामसकल. 'शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि'।
- गुप्त, नत्थूलाल. मूल्यपरक शिक्षा।

\*\*\*\*\*

## आधुनिक प्रौद्योगिकी शिक्षा और मानवीय मूल्य

अमित कुमार वर्मा\*

आज हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के उन्नत युग में नित नूतन आयाम स्थापित कर रहे हैं। चारों ओर विज्ञान और तकनीक के जादू ने कदम पसार रखे हैं। दिन-प्रतिदिन नवीनतम तकनीक से रूबरू होते-होते हम क्या कुछ भूले जा रहे हैं, हमें इसकी जरा भी चिन्ता नहीं। विकास की प्रतिद्वन्द्विता भी बड़ी अजीब है, जो अपनी परम्पराओं और संस्कृति को पैरों तले कुचल हमें आगे बढ़ने की मृग-मरीचिका जैसी सीढ़ी दिखा रही है। संस्कार और नैतिकता के दामन को कोसों पीछे छोड़ हमें अत्याधुनिक बनाने की कवायद नये-नये तरीकों से ही सिखाई है। मानवीय मूल्यों को भूमण्डलीकरण के इस युग में भला कौन बचाये, हर कोई एक-दूसरे का मुँह ताकता या फिर असहाय सा नजर आता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति निःसंदेह काबिल-ए-तारीफ है, परन्तु मानवीय आदर्शों और मूल्यों की होली जला, सांस्कृतिक विनाश व नैतिक पतन की तर्ज पर किया जा रहा अत्याधुनिक चकाचौंध भरा विकास भी सिर्फ एक बेईमानी ही तो है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी शिक्षा का तात्पर्य आज के समय में प्रचलित व व्यापक प्रौद्योगिकी की शिक्षा की एक अभिनव शाखा से है। इसके फलस्वरूप, जो तकनीकी विशेषज्ञ और अभियंता (इंजीनियर) तैयार हो रहे हैं, वे न तो भावनात्मक रूप से उतने विकसित हैं, न ही चारित्रिक व नैतिक मूल्यों के रूप में अधिक सुदृढ़। यह मंडराता संकट भारत ही नहीं, वरन् अखिल विश्व को अपनी चपेट में ले रहा है। हमारे यहाँ प्रारम्भ से ही संस्कारों, मूल्यों व आदर्शों की शिक्षा को वरीयता दी जाती रही है। वास्तविकता तो यह है कि शिक्षा का तात्पर्य ही वैदिक काल (आरम्भिक काल) से मूल्यों के विकास के रूप में माना जाता रहा है। मूल्यों के बारे में **प्रोफेसर अर्बन** अपनी पुस्तक **‘फण्डामेंटल ऑफ इथिक्स (Fundamental of Ethics)’** में बतलाते हैं कि **“मूल्य वही हैं जो मानव के संरक्षण में सहायक हों।”** शिक्षा के मूल उद्देश्य में भी व्यक्ति को मानवता, नैतिकता, सभ्यता या सार रूप में मानव मूल्यों के विकास में सहायक होने की बात कही गयी है। आधुनिक प्रौद्योगिकी शिक्षा, जहाँ व्यक्ति को सुख आधारित (सुविधा भोगी) बना रही है, वहीं वह मूल्यों के संरक्षण में असफल ही साबित हो रही है। मानवीय मूल्य तो वे हैं, जो हमें संस्कृति व सभ्यता के मूल की ओर ले जायें। **अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन** अपने पुत्र हेतु शिक्षक को भेजे गये ख्यातिप्राप्त पत्र में लिखते हैं कि—**“उसे यह शिक्षा दें कि वह अपना मस्तिष्क तो सबसे ऊँचे दाम देने वाले के हवाले करे, लेकिन अपनी आत्मा व विश्वास के कभी दाम न लगाये।”**

\*शोध छात्र, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्वामी विवेकानन्द ने युवाओं को जीवन का मूल मंत्र समझाते हुए कहा था कि “मानवीय सेवा में ही ईश्वर के साक्षात्कार होते हैं।” अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था—“सम्पूर्ण विश्व पर हमारी मातृभूमि का महान ऋण है। इसी व्यवहारिक वेदान्त की परम पावन करुण भूमि से आध्यात्म की लहर बार-बार उमड़ी और आह्लादित हुई है और यहीं से मानव जाति में क्षमा, दया व शुचिता आदि सद्वृत्तियों जैसे मानवीय मूल्यों का विकास हुआ है। युवा पीढ़ी को इन मानवीय मूल्यों का संरक्षण करना होगा।”

‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ और ‘जियो और जीने दो’ की विचारधारा को विश्व पटल पर प्रसारित करने वाले देश भारत में विज्ञान और तकनीकी के एकांगी विकास के बारे में चिन्तित होकर महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने मानवता के प्रबल पुजारी—राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के बारे में कहा था— “आगे आने वाली पीढ़ी शायद ही यह विश्वास कर सके कि हाड़-माँस का बना ऐसा महामानव भी कभी इस धरती पर रहा होगा।” उपर्युक्त कथन विज्ञान व तकनीकी शिक्षा के पसरते विभिन्न आयामों के बारे में आधुनिक युवा पीढ़ी के मूल्यों से पतित होने की ओर सटीक इशारे मात्र हैं। वास्तविक स्थिति तो और भी भयावह है। प्रगति का मानक विज्ञान व तकनीकी रहे, पर फिर भी हमारी शिक्षा व्यवस्था समाज व परिवेश में रहने वाली युवा पीढ़ी में ऐसे परिवर्तन लाये, जिससे अहिंसामूलक सत्य द्वारा प्रेमपूर्वक जीवन—यापन संभव हो सके। हम ऐसे मानव बनें, जो स्वेच्छा से मानवता के शाश्वत मूल्यों का पालन करने में आन्तरिक रुचि जतायें। इससे समस्त समाज, राष्ट्र व विश्व का उत्थान तथा कल्याण तो होगा ही, साथ ही साथ विज्ञान व तकनीकी शिक्षा से पनपे शोषणकारी, पूँजीवाद और उपभोक्तावाद के गुरुओं द्वारा युवा पीढ़ी को घुन सरीखी पिसती बंधक सोच को भी एक नया प्रतिमान मिलेगा। आधुनिक तकनीकी शिक्षा ने समाज व युवा पीढ़ी को इस कदर प्रभावित किया है कि आलम यह है—

**‘धर्म चोरी हो गया, ईमान चोरी हो गया।**

**खो गयी इन्सानियत, इंसान चोरी हो गया।।’**

अपने ही देश में कभी-कभी हमें सम्बन्धों के विकृत मकड़-जाल में ऐसा लगने लगता है कि वैश्विक गाँव (Global Village) तथा तकनीकी व संचार क्रान्ति के वर्तमान युग में हम भावनात्मक तौर पर, पास होकर भी दूर हो चले हैं। सम्बन्धों के प्रेम-स्नेह वाले मूल्य सिर्फ औपचारिकता मात्र बनकर रह गये हैं। मूल्यों के क्षय का विनाशकारी दृश्य हमारे सामने दहेज, आत्म-हत्या, बलात्कार व आतंकवाद आदि कुकृत्यों के रूप में तमाम दिशाओं से नित-प्रतिदिन आता नजर आ रहा है। हमारी तकनीक की उच्च

कोटि की पढ़ाई (प्रौद्योगिकी शिक्षा) भी इसके विरुद्ध कोई व्यापक मुकाबले की रणनीति नहीं बना पा रही है। आंतकवाद से जुड़े तथा अन्य असामाजिक व अमानवीय कृत्यों में, हालिया तौर पर ही देखें तो, स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि अनेक तकनीकी संस्थान विकृत मस्तिष्क के सॉफ्टवेयर रूप में आधुनिक युवाओं को नये-नये क्षेत्रों में अपराध के सुनहरे अवसर उपलब्ध करा रहे हैं। अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद (AICTE) भले ही इंजीनियरिंग व पॉलीटेक्निक की नयी-नयी शाखाओं वाले अंशख्य कॉलेजों व विश्वविद्यालयों को दिनों-दिन मंजूरी देकर संख्यात्मक उपलब्धि की कोरी प्रतिष्ठा खुद-ब-खुद हासिल कर रही हो, मगर स्थिति तो वस्तुतः बहुत ही गम्भीर व विचारणीय है।

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों और राष्ट्रीय तकनीकी संस्थानों जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों के छात्र-छात्राएं भी अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से कई विनष्टकारी कृत्यों में लिप्त पाये जाते रहे हैं। मूल्यों के संकट की इस घड़ी में हमें अपनी प्रौद्योगिकी शिक्षा को मूल्यपरक बनाना होगा। ऐसे मूल्यों को जो समय के साथ अपना अस्तित्व नहीं खोते, हमें अपनी शिक्षा का अभिन्न और अभिनव अंग बनाना होगा। जिस विज्ञान व तकनीकी शिक्षा का सूत्रपात या विकास मानव कल्याणार्थ हुआ, उसके मूल उद्देश्य की प्रतिपूर्ति हेतु मूल्यों को संरक्षित व संवर्धित करना होगा। मूल्य-बिखराव व मूल्य-संकट के दौर से गुजरते अखिल विश्व को तकनीकी शिक्षा के समानान्तर ही पाठ्यक्रम में व्यावहारिक तौर पर अनेक ऐसे अध्याय जोड़ने होंगे, जो आधुनिकीकरण के वर्तमान वैज्ञानिक व तकनीकी युग में भी, वैश्विक स्तर पर मानवीय आदर्शों व शाश्वत मूल्यों को पुनर्जीवित करते हुए उन्हें संरक्षित रख सकें। भारत की सभ्यता व संस्कृति से तकनीकी विशेषज्ञों तथा अभियंताओं को वैसे ही जुड़े रहना होगा, जैसे एक बच्चा सदा अपनी माँ के प्रति लगाव का भाव महसूस करता है। युवा पीढ़ी को भी अपनी सोच में सकारात्मक परिवर्तन लाने होंगे, क्योंकि **‘मूल्यों को पढ़ाया नहीं जाता है, वरन् मूल्य तो पकड़े या ग्रहण किये जाते हैं। (Values are not taught, but caught.)’**

सार रूप में कहा जाये तो प्रौद्योगिकी शिक्षा आधुनिक परिवेश में प्रगति के वास्तविक व सुदृढ़ स्तम्भ केवल तभी स्थापित कर पायेगी, जब वह मूल्यों को भी अपने साथ लेकर चलेगी, अन्यथा बारूद के ढेर पर टिकी इस दुनिया को और अधिक मानवीय संहार व प्रौद्योगिकी के दुरुपयोग से उपजी विनाशपूर्ण त्रासदियाँ कब **‘काल का ग्रास’** बना लें, कोई नहीं जानता।

### संदर्भ :

1. गुप्ता, एम.पी. 'विज्ञान शिक्षण के माध्यम से मानवीय मूल्यों की शिक्षा', जर्नल ऑफ वैल्यू एजुकेशन, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, अंक-4 (1 एवं 2) (2004), पृ0सं0-86-94
2. घोष, टी.पी. 'साइंस एण्ड स्ट्रिचुअलिटी इन एजुकेशन', जर्नल ऑफ वैल्यू एजुकेशन, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, अंक-4 (1 एवं 2) (2004), पृ0सं0-79-85
3. भट्ट, एस. 'ग्रोथ एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ इंजीनियरिंग एजुकेशन : एन ओवरव्यू ऑफ इण्डियन सिनेरिओ', यूनिवर्सिटी न्यूज, ए.आई.यू. हाउस, नई दिल्ली, अंक-48 (10) (2010), पृ0सं0-12-21
4. मोहाजर, एन. एवं एस. मोहाजर. 'इज साइंस इनफालिबल? ए क्रिटिकल एनालिसिस ऑफ साइंटिफिक एण्ड टेक्नोलॉजिकल वैल्यूज, इम्प्लीकेशन फॉर स्कूल एजुकेशन', जर्नल ऑफ वैल्यू एजुकेशन, एन.सी.ई.आर.टी., अंक-4 (1 एवं 2) (2004), पृ0सं0-71-78
5. निवेदिता 'लर्निंग टू लिव टुगेदर : द कीस्टोन ऑफ एजुकेशन फॉर दि ट्वेन्टी फर्स्ट सेन्चुरी', यूनिवर्सिटी न्यूज, ए.आई.यू. हाउस, नई दिल्ली, अंक-48 (43), (2010), पृ0सं0-11-14
6. लैमग्ना, सी. जेड. एवं सी. विलान्यूवा. 'हायर एजुकेशन वैल्यूस एक्रॉस टाइम एण्ड कल्चर : सरवालवर आर रिवाइवल', यूनिवर्सिटी न्यूज, ए.आई.यू. हाउस, नई दिल्ली, अंक-48 (39), (2010), पृ0सं0-19-23
7. वर्मा, एस. एवं एस. मिश्रा. 'शिक्षा एवं मूल्य : विश्लेषण', मूल्य विमर्श, मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, वाराणसी, अंक-5 (9) (2010), पृ0सं0-49-51
8. शर्मा, एस. 'प्रोफेशनल इथिक्स एण्ड वैल्यूज इन टीचर एजुकेशन', यूनिवर्सिटी न्यूज, ए.आई.यू. हाउस, नई दिल्ली, अंक-44 (14) (2006), पृ0सं0-10-11 एवं 17
9. स्वामी, आर.एन. 'चेंजिंग रोल ऑफ टीचर्स इन स्ट्रेन्थिनिंग वैल्यू बेस्ड हायर एजुकेशन', यूनिवर्सिटी न्यूज, ए.आई.यू. हाउस, नई दिल्ली, अंक-48 (39) (2010), पृ0सं0-14-18
10. सिंह, ओ. 'मूल्योन्मुखी शिक्षा : मिथक एवं यथार्थ', मूल्य विमर्श, मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, वाराणसी, अंक-5 (9) (2010), पृ0सं0-20-14
11. सेन्टिगो, ए. 'वैल्यू एण्ड वर्चुस इन द इरा ऑफ ग्लोबलाइजेशन', यूनिवर्सिटी न्यूज, ए.आई.यू. हाउस, नई दिल्ली, अंक-48 (39), (2010), पृ0सं0-6-11
12. त्रिपाठी, एस. 'मानवीय मूल्य एवं मूल्य संस्कार : स्वामी विवेकानन्द का चिंतन', मूल्य विमर्श, मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, वाराणसी, अंक-5 (9), (2010), पृ0सं0-32-34 एवं 37

\*\*\*\*

## भारतीय चिकित्सा पद्धति में वर्णित सामाजिक मूल्य एवं उनका महत्व

रश्मि वार्ष्णेय\*

अथर्ववेद के उपवेद एवं पंचमवेद 'आयुर्वेद' में शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व एवं आत्मा के संयोग को 'आयु' कहा गया है जिसमें 'शरीर एवं इन्द्रिय' 'शारीरिक द्रव्य' तथा 'सत्त्व एवं आत्मा' को 'आध्यात्मिक द्रव्य' बताया गया है तथा सत्त्वसंज्ञक मन अतीन्द्रिय (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक् तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ—हस्त, पाद, पायु उपस्थ एवं त्वाक—इनसे भिन्न तथा इनका अतिक्रमण करने वाला) है, इसे कुछ लोग 'चेत' का संज्ञा देते हैं। इस मन का व्यापार अपने विषय (इन्द्रिय सापेक्ष एवं इन्द्रिय निरपेक्ष) तथा आत्मा की श्रेष्ठता के अधीन हैं और यह सभी इन्द्रियों की चेष्टाओं का प्रधान कारण है। यह मन (सत्त्व) जिस गुण का बारबार पुरुष में अनुवर्तन करता है, मन भी उसी गुण वाला हो जाता है। क्योंकि मन के अधीन, मन की प्रेरणा से एवं मन के साथ ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। मन का लक्षण ही ज्ञान का होना या न होना बताया गया है। उपनिषद एवं गीता में भी बताया गया है —

“चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न च चक्षुषा।

मनसा व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति।।”

अतः यह अध्यात्म द्रव्य ही शुभ और अशुभ विषयों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में हेतु हैं क्योंकि मन का अपने विषयों से समयोग ही प्रकृति (स्वस्थावस्था) का कारण है और इनका अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग विकृति (रोगोत्पत्ति) का कारण है। अतः मन के साथ सभी इन्द्रियाँ स्वभाविक रूप में वर्तमान रहें तथा उनमें कोई विकृति न हो इसलिए सात्म्य इन्द्रियार्थों के संयोग द्वारा बुद्धि से ठीक-ठीक विचार कर कार्यों को उचित रूप में करना चाहिए क्योंकि आयुर्वेद में धारणीय वेगों का धारण न करने से मन के विकार (मानसिक विकार) की उत्पत्ति का निर्देश दिया गया है। जिसमें धारणीय वेगों के अंतर्गत व्यक्ति को मन वचन एवं शरीर से निषिद्ध एवं सहसा कार्य नहीं करना चाहिए यथा—लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग (प्रेम) दूसरे का धन लेने की इच्छा आदि मानस वेगों को रोकना चाहिए एवं अत्यन्त कठोर वचन, चुगलखोरी, झूठ बोलना और अकालयुक्त वचन इनके वेगों को धारण करना चाहिए। दूसरे को पीड़ा देने वाले शरीर के कर्म, परस्त्री सम्भोग, चोरी और हिंसा से उत्पन्न वेगों को रोकना चाहिए। इस प्रकार नियमों का पालन करने से मनुष्य के मन, वचन एवं कर्म पाप रहित हो जाते हैं जिससे वह पुण्य का भागी होता है तथा सुखपूर्वक धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त कर उसके फलों का उपभोग करता है। अतः इस संसार में और मरने के बाद भी सुख की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह आहार, आचार और सभी

\*सर्विस सीनियर रेजीडेंट, आई.एम.एस., काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



प्रकार की चेष्टाओं में हितकर वस्तु के सेवन में अधिक प्रयत्न करे जिसके लिए 'सदवृत्त' एवं 'आचार-रसायन' के माध्यम से अपना कल्याण चाहने वाले सभी मनुष्यों को सर्वदा अपनी स्मरणशक्ति को जागरूक रखते हुए इनका पालन करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से एक ही साथ आरोग्य और इन्द्रियों पर विजय इस 'अर्थद्वय' को मनुष्य प्राप्त करता है।

सदवृत्त के अंतर्गत देवता, गुरु, सिद्ध पुरुष की पूजा, स्वच्छता, साधुवेश, पूर्वाभिभाषी, धार्मिक, दक्ष, क्षमावान्, निर्भीक, धीमान्, शान्तिप्रधान, सत्यप्रतिज्ञ, दूसरे के कठोर वचनों को सहने वाला, असहिष्णुता, क्रोध का नाशक, शान्ति का गुण देखने वाला, राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले कारणों का त्याग करने वाला होना चाहिए तथा शत्रुता में रूचि न लेना, पापकर्म न करना, पापी के साथ भी पाप का व्यवहार न करना, दोषों को न कहे, गुप्त बातों को जानने की चेष्टा न करे, अधार्मिक-दुष्ट व्यक्तियों का साथ न रहने एवं दुष्ट प्रवृत्ति के मनुष्य के आश्रय में न रहे, स्त्रियों का अपमान न करें, सज्जन पुरुषों एवं गुरुओं की निन्दा न करें तथा अपवित्रावस्था में पूजा और अध्ययन न करें, मदिरापान, जुआ खेलने और वेश्यागमन की इच्छा न करें, अभिमानी न बने, कार्यकुशलता प्राप्त करें, दूसरों की निन्दा न करें, गौओं पर दण्डा न उठावें, वृद्ध, गुरु और शासक पर आक्षेप न करें, अधिक न बोलना, धैर्य न छोड़े, निजी व्यक्तियों पर अविश्वास न करें, अकेले सुखी होने की चेष्टा न करें, दुखदायी आचार-विचार वाला न बने, सर्वसाधारण पर विश्वास या सन्देह न करें और सर्वदा सोच-विचार में भी न रहें। समय निरर्थक न बितावें, किसी भी कार्य को बिना परीक्षा किए सहसा न करें, इन्द्रियों के वशीभूत न रहें, चंचल मन को स्वच्छन्दतापूर्वक विषयों में न लगावें, क्रोध या द्वेष के वश में होकर कोई भी कार्य न करें, शोक के वशीभूत न हो, कार्य की सिद्धि हो जाने पर अत्यंत प्रसन्नता तथा कार्य की असिद्धि होने पर अत्यन्त दुःख व्यक्त न करें, प्रकृति का स्मरण सदा करें, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दया, हर्ष, उपेक्षा और शान्ति इन क्रियाओं में तत्पर रहें। और उपर्युक्त गुणों से युक्त मनुष्य यदि रसायन का सेवन न भी करें तो भी रसायन के सभी गुण उसे प्राप्त होते हैं। जिसे 'आचार रसायन' की संज्ञा दी गई है। अष्टांग योग में वर्णित यम। (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) तथा नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्राणिधान) में भी इन्हीं का समावेश है।

सुख के कारणों के सेवन से दुःख का क्रमिक अनुबन्ध नष्ट हो जाता है और सुख की प्रवृत्ति हो जाती है और बुद्धि, धृति और स्मृति के भ्रष्ट हो जाने पर मनुष्य जब अशुभ कर्म करता है तब सभी शारीरिक एवं मानसिक दोष प्रकुपित होकर विकार (रोग) उत्पत्ति करते हैं।

‘श्रीमद्भागवत गीता’ में भी कहा गया है—

“ध्यायतो वषयान्पुंसः स स्तेषूपजायते ।  
स त्सर्ज्जयते कामः कामातत्क्रोधोऽभिजायते ॥  
क्रोधादभवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।  
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥”

(श्रीमद्भगवद्गीता 2/6, 63)

मानस रोग उत्पन्न होने पर भी धर्म, अर्थ, काम, इन तीनों का विचारपूर्वक पालन करना चाहिए तथा मानसिक रोगों को दूर करने वाले पुरुषों की सेवा, आत्मज्ञान, देशज्ञान, कुलज्ञान, कालज्ञान, बलज्ञान तथा अपनी शक्ति का ज्ञान सर्वस्व रखना चाहिए —

“मानसं प्रतिभैषज्यं त्रिवर्गं स्यान्वेक्षणम् ।

तद्धिद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वश ॥” (च.सू. 11/47)

सभी प्राणियों की सभी प्रवृत्ति (कार्य) सुख के लिए ही होती है, पर जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक कार्य करता है वह सुखकर मार्ग पर रहता है और जो अज्ञानपूर्वक कार्य करता है वह अकार्य (दुःख) का भागी होता है। जिन लौकिक मनुष्यों की आत्मा रजोगुण और तमोगुण से आवृत्त रहती है वे तत्काल प्रिय लगने वाले कर्म ही करते हैं परन्तु जिन लोगों की आत्मा ज्ञान के प्रकाश से अमल हो गई ऐसे ज्ञानी पुरुष तात्कालिक सुखकर परन्तु परिणाम में असुखकर भावों का सेवन नहीं करते।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. चरक संहिता पूर्वार्द्ध
2. चरक संहिता उत्तरार्द्ध
3. अष्टांग संग्रह
4. अष्टांग हृदय
5. भूत विद्या
6. श्रीमद्भागवत गीता (गीता प्रेस)

\*\*\*\*\*

## अपभ्रंश साहित्य में जीवन मूल्य

बृजराज सिंह\*

अपभ्रंश एक समय लोकप्रचलित काव्य<sup>1</sup> भाषा रही है। अपभ्रंश साहित्य की अधिकांश रचनाएं धार्मिक प्रतिबद्धता<sup>2</sup> एवं भक्ति के साथ लिखी गयी हैं, फिर भी अपभ्रंश साहित्य की जो सामग्री मिलती है उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके अलावा भी कई विषय थे जिनपर रचनाएं हुयी हैं। अपभ्रंश साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग नीति, सूक्ति, अन्योक्ति, स्तुति आदि ढंग के काव्यों से भरा हुआ है। हेम व्याकरण, देवसेन का सावयधम्म दोहा, सोमप्रभ का कुमारपाल प्रतिरोध, आदि में धार्मिक सूक्तियां, अनुभवपूर्ण नीति दोहे तथा संकेतपूर्ण अन्योक्तियां मिलती हैं।<sup>3</sup> स्वभावतः मूल्य समाजगत होते हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ-साथ समाजगत मूल्यों का होना किसी भी स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है। मूल्य निर्माण एक लंबी प्रक्रिया है। इस लंबी प्रक्रिया में साहित्य का योगदान प्रमुख है। बेहतर साहित्य से बेहतर मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया को बल मिलता है। संस्कृत साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक, सबने इस मूल्य निर्माण की प्रक्रिया में अपना योगदान दिया है। तुलसीदास द्वारा रचित 'रामचरितमानस' का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि उसमें रामकाव्य के साथ-साथ एक बेहतर समाज रचना का स्वप्न भी है। इसके लिए उन्होंने रामराज्य की कल्पना की जिसमें सभी प्राणी समान हों, कोई दुखी न हो। समाज एवं परिवार में एक दूसरे के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, तुलसीदास ने रामकथा के माध्यम से इसे कहने का प्रयास किया है।

संस्कृत साहित्य की तरह अपभ्रंश साहित्य में भी राम काव्य लिखे गए। इसकी शुरुआत स्वयंभू (आठवीं शताब्दी) ने 'पउम चरित' (रामायण) लिखकर की। सीता की अग्नि परीक्षा का दृश्य है। वे राम से कहती हैं कि दोष न तुम्हारा है, न जनसमूह का है। इस दोष से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है कि ऐसा कुछ किया जाय जिससे दूबारा स्त्री योनि में जनम न लेना पड़े—

एमहि तिह करोमि पुणु रहुवई।

जिह न होमि परिवारे तिय भईं।।<sup>4</sup>

नारी पर पुरुषों के अत्याचार की इतनी मार्मिक अनुभूति और क्या हो सकती है। इसी प्रसंग में सीता राम से स्त्री-पुरुष के सामान्य व्यवहार के बारे में चर्चा करते हुए कहती हैं कि पुरुष गुणवान होकर भी हृदयहीन होते हैं। मरती हुयी स्त्री का भी विश्वास नहीं करते —

पुरिस णिहीण होंति गुणवत वि।

तियहे न पत्तिज्जंति मरंत वि।।<sup>5</sup>

\*पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्त्री के प्रति किया गया व्यवहार, सभ्यता की पहचान है। कोई समाज कितना सभ्य है यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह स्त्रियों के प्रति कैसा व्यवहार करता है। स्वयंभू ने सीता के माध्यम से पूरे स्त्री समाज की व्यथा को चित्रित करने का प्रयास किया है। वे अपने प्रयास में सफल भी हैं।

सरह पा ने 'दोहाकोश' की रचना की थी। इसमें उन्होंने जीवन और उससे जुड़े प्रसंगों की खूब चर्चा की है। उपदेशात्मक शैली में सरह पा ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर अपनी राय प्रकट की है। गुरु-शिष्य के संबंध में उन्होंने कहा कि गुरु को तब तक शिष्य नहीं बनाना चाहिए जब तक कि वह उस लायक न हो जाय—

**जाव न आप जणिज्जइ, ताव न सिस्स करेइ।**

**अन्धा अन्ध कढ़ाव तिम, वेण्ण वि कूव पड़ेइ।।<sup>१</sup>**

मानव व्यवहार एवं सामान्य शिष्टाचार के तहत यह कहा जाता है कि आप अपने लिए जिस व्यवहार की उम्मीद करते हैं, दूसरों के साथ वैसा ही करें। आप जैसा व्यवहार दूसरों के साथ करेंगे वैसा ही आप के साथ होगा। मानव धर्म के लिए इससे बड़ी बात क्या हो सकती है। देवसेन ने 'सावयधम्म दोहा' में लिखा है—

**काइँ बहुतइँ जंपिअइँ, जं अप्पणु पडिक्कुलु।**

**काइँ मि परहु न तँ करहि, एहु जु धम्मह मूलु।।<sup>१</sup>**

बहुत कल्पना करने से क्या? जो अपने प्रतिकूल हो उसे दूसरों के प्रति कभी न करो। यही धर्म का मूल है। इससे उत्कृष्ट जीवन मूल्य और क्या हो सकता है? देवसेन ने कहा है कि जितना दिया जाता है उतना ही प्राप्त होता है, यह वाक्य पूरी तरह से सही नहीं है, कभी कभी उससे ज्यादा, बहुत ज्यादा प्राप्त होता है। जैसे गाय को खली-भूँसी खिलाई जाती है परन्तु उससे दूध प्राप्त होता है —

**जँ दिज्जह तँ पाविअइ, एउ न वयण विसुद्ध।**

**गाइ पइण्णइ खडभुसइँ कि न पयच्छ इ दुद्धु।।<sup>१</sup>**

किसी भी व्यक्ति को उचित सम्मान देना भी मूल्य ही है। सम्मानजनक मानव व्यवहार भी मूल्यों के दायरे में ही आता है। सभ्य समाज में नागरिकों का व्यवहार मूल्य निर्माण की प्रक्रिया का प्रथम सोपान है। सभी नागरिक आपस में प्रेम व्यवहार से रहें, इससे बेहतर मूल्य और क्या हो सकता है। प्रेम के बिना मानव समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रेम जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है। राम सिंह ने 'पाहुडदोहा' में लिखा है 'मूढ़ तूने बहुत पढ़ लिया है, तेरा तालू सूख गया है। एक ही अक्षर ऐसा पढ़ जिससे शिवपुरी पहुँच सके'—

**बहुयइ पढ़ियइ मूढ़ पर, तालू सूक्कइ जेण।**

**एक्कुजि अक्खरु तं पढ़हु, सिवपुरी गम्मइ जेण।।<sup>१</sup>**

यह एक अक्षर कौन सा है? वह प्रेम है, जिसे कबीर ने ढाई आखर कहा—

**पोथी पढ़—पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय ।**

**ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय ।।<sup>10</sup>**

कहने का तात्पर्य है कि सिर्फ पढ़—लिखकर मशीन बन जाने से मनुष्यता या समाज का भला होने वाला नहीं है। उसके लिए जरूरी है मूल्यों का विकास। समाजगत मूल्यों के विकास में ही मनुष्यता का विकास निहित है। फ़िराक साहब ने कहा है—

**वाइज़ ने इल्म को भी खड़ा सर के बल किया ।**

**ऐसा पढ़ा लिखा है कि ज़ाहिल कहें जिसे ।।<sup>11</sup>**

इसी मूल्य के विकास के लिए सबसे जरूरी तत्त्व है प्रेम, जिसे अपभ्रंश साहित्य में पर्याप्त जगह मिली। संदेश रासक जैसे काव्य की रचना हुयी। इसमें प्रेम के विभिन्न रूपों का चित्रण हुआ है। उदात्त प्रेम की अभिव्यक्ति में अब्दुल रहमान को अद्भुत सफलता मिली है —

**कंतु काहब्बउ भंति विणु धू पंथिय जाणाईं ।**

**अज्जवि जीविउ कंत विणु तिणि संदेसई काईं ।।**

**जसु पवसंत ण पवसिया मुइअ वियोइ ण जासु ।**

**लज्जिज्जउ संदेसउद दिंती पहिय पियासु ।।<sup>12</sup>**

नायिका पथिक से कहती है कि हे पथिक! मैं जानती हूँ प्रेम के बिना प्रिय को कंत कहना उचित नहीं है। जो आज भी कंत के बिना जीवित है उसके संदेश देने से क्या। वह फिर कहती है—जिसके प्रवास करते समय मैंने भी प्रवास नहीं किया, जिसके वियोग में मैं मरी नहीं, पथिक, उस प्रिय को संदेश देते हुए लज्जा आती है।

संतों-भक्तों ने बार-बार यह कहा है कि धन, वैभव एवं शक्ति इकट्ठा कर लेने पर भी गर्व नहीं करना चाहिए। सामान्य व्यवहार ही उत्तम होता है। संसार की नश्वरता की तरफ इशारा करते हुए 'प्रबंध चिंतामणि' में कहा गया है 'हे भोली मुग्धे इन छोटे से पाड़ों (भैंस के बच्चे) को देखकर गर्व न कर। मुंज के तो चौदह सौ छिहत्तर हाथी थे पर सब चले गए' —

**भोली मुन्धि मा गब्बु करि, पिक्खिवि पडरुवाईं ।**

**चउदह—सइ छहुत्तरहं, मुंजईं गयह गयाईं ।।<sup>13</sup>**

सफलता प्राप्त कर लेने पर अपने को उच्च एवं दूसरों को निम्न समझना, अच्छा नहीं कहा जा सकता। सफलता प्राप्त करने पर गर्व करना एवं असफल होने पर अवसादग्रस्त हो जाना, सिर्फ मानव व्यवहार ही नहीं बल्कि समस्या बन जाती है। सुख एवं दुख दोनों परिस्थितियों में समान व्यवहार करने की कोशिश करनी चाहिए। हमेशा

अपना गुणगान एवं दूसरों की निन्दा करना सज्जन व्यक्ति के लक्षण नहीं हैं। समाज में कई तरह के लोग रहते हैं। जीवन एक दौड़ बन गया है। इस दौड़ में कुछ लोग आगे निकल जाते हैं तो कुछ पिछड़ जाते हैं। बहुत तो ऐसे हैं जो अभी दौड़ में शामिल ही नहीं हैं। जरूरत है उन्हें भी साथ लाने की। कहने का मतलब यह नहीं कि जो आगे हैं वे पीछे हो जाएं, बल्कि जो पीछे रह गये हैं उन्हें आगे लाने की जरूरत है, न कि उन्हें छोड़ देने की। सज्जन व्यक्तियों का परिचय देते हुए हेमचन्द्र ने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में लिखा है —

**बच्छ हे गृहणइ फलइँ जणु कडु—पल्लव बज्जेइ।**

**तो वि महद्द्रुम सुअणु जिवँ ते उच्छंगि धरेइ॥<sup>14</sup>**

लोग वृक्षों से फलों को ग्रहण करते हैं, कटुपल्लवों को छोड़ देते हैं। तब भी महान् द्रुम सज्जन की भाँति उन्हें (उत्संग) गोद में धारण किये रहता है। हेमचन्द्र ने समाज एवं दैनंदिन जीवन पर अनेक दोहे लिखे हैं। जन सामान्य के व्यवहार पर उनकी दृष्टि थी। उपदेशात्मक एवं नीतिपरक दोहे उनकी पहचान हैं। एक दोहे में उन्होंने लिखा है कि जो अपना गुण छिपाए और दूसरों का बताए, कलियुग में दुर्लभ ऐसे सज्जन व्यक्ति पर बलि जाता हूँ। अर्थात् ऐसे सज्जन दुर्लभ हैं —

**जो गुण गोवई अप्पणा पयडा करइ परस्सु।**

**तसु हउँ कलि—जुगि दुल्लहहो बलि किज्जउँ सुअणस्सु॥<sup>15</sup>**

एक दोहे में हेमचन्द्र ने लिखा है कि जीवन किसे प्यारा नहीं? धन किसे अच्छा नहीं लगता। परन्तु अवसर आ पड़ने पर विशिष्ट जन दोनों को ही तृष्ण समान गिनता है।

**जीविउ कासु न बल्लहउं घणु पणु कासु न इट्ठ।**

**दोण्णि वि अवसर—निवडिअइ तिण—सम गणइ विसिट्ठु॥<sup>16</sup>**

अपभ्रंश साहित्य में जीवन व्यापार एवं क्रिया कलापों के बारे में पर्याप्त चर्चा मिलती है। जहां तक मूल्यों की बात है, मूल्य बेहतर समाज रचना के लिए जरूरी तत्त्व हैं। स्वस्थ समाज रचना के लिए स्वस्थ मूल्यों का निर्माण आवश्यक है। इस प्रक्रिया में साहित्य सर्वोत्तम माध्यम होता है। सन्तों, भक्तों ने इसी मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया में अपने साहित्य से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अपभ्रंश साहित्य में भी यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। साहित्य समाज से गहरी तरह जुड़ा होता है। अपने समय की अभिव्यक्ति के साथ-साथ वह भविष्य के लिए दिशा निर्देश भी देता चलता है। जरूरत है उस निर्देश को समझाने की।

**सन्दर्भ:-**

1. शुक्ल, रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, पृ0सं0-25
2. शाही, सदानन्द. संदेश रासक: लोकोन्मुखी चेतना के कवि अब्दुल रहमान एवं उनका काव्य, प्रज्ञा, वाराणसी, अंक-82, 1987
3. सिंह, नामवर. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ0सं0-217
4. वही, पृ0सं0-172
5. वही, पृ0सं0-170
6. वही, पृ0सं0-265
7. वही, पृ0सं0-267
8. वही, पृ0सं0-267
9. वही, पृ0सं0-269
10. कबीर
11. गालिब
12. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (सम्पा.), अब्दुल रहमान : संदेश रासक, पृ0सं0-159
13. सिंह, नामवर. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ0सं0-272
14. वही, पृ0सं0-274
15. वही, पृ0सं0-274
16. वही, पृ0सं0-275

\*\*\*\*\*

## मानवीय मूल्य और सन्त साहित्य

राजेश कुमार चौधरी\*

काव्य और जीवन का बड़ा समीप का सम्बन्ध है और जीवन में नैतिक चेतना का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि आदर्श जीवन के लिए परिष्कार की नितान्त आवश्यकता होती है। और यह परिष्कार नैतिकता से ही साधित होता है। सन्तों की कविता के सन्दर्भ में कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी कविता समग्रतः नैतिकता से अनुप्राणित-अनुचालित होते हुए मानवतावादी मूल्यों की स्थापना की ओर निरन्तर अग्रसर रही हैं। सन्तों की कविता मानव-जीवन की आनन्दमयी आचार संहिता हैं। वह आचारिक एवं मानसिक परिष्कार की संवाहिका-सम्प्रसारिका है। सन्तों की मानवीय भावना कोई ओढ़ी हुई वस्तु नहीं थी, वरन् वह अन्तस् की अविरज भूमि से उन्मिशित हुई थी, इसीलिए उनकी मानवीय चेतना अंतर्लोक का प्रस्फुट प्रकाश है। सन्तों की मंगलविधायिनी भावना एक ऐसे समाज की रचना की अभिलाषिणी थी, जो मन और तन से, आचार और विचार से, कथनी और करनी से सर्वथा निर्दोष-निर्मल हो।

मानवता का मूल लक्ष्य है संसार के सभी जीवों के कष्ट को मिटाना। मानव हृदय में व्यथित, पीड़ित के लिए सहानुभूति एवं समव्यथा की भावना रहती है। वह संसार को सुखी और प्रसन्न देखना चाहता है। वह मानव की आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक सभी दशाओं को सुधारने के लिए प्रयत्न करता है। मानववादी साहित्य और मानव जीवन को एक दूसरे के निकट लाने के लिए प्रयत्न करता है। मानवता को सर्वथा श्रृंखलाओं से उन्मुक्त देखना चाहता है।

वह भविष्य में एक स्वस्थ और आशापूर्ण दृष्टिकोण का आकांक्षी रहता है। प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य, जिसके मूल में मार्क्सवाद वर्तमान है, इसी मानवता के आधार पर स्थित है। यह मानवता सन्तों के साहित्य में ओत प्रोत है। एक भी ऐसा सन्त कवि नहीं है, जिसका लक्ष्य मानवता के पक्ष में न रहा हो। मानव के आध्यात्मिक और लौकिक जीवन को सुखी बनाने के लिए उन्होंने बारम्बार सन्मार्ग, कल्याणकारी पक्ष की ओर संकेत किया। इसीलिए तो सन्तों ने जन शोषण के विरुद्ध बारबार उपदेश दिया है। उन्होंने वर्ग भेद की कटु आलोचना की। मानवता सन्तों की सबसे बड़ी विशेषता है। कबीर जैसे उदार व्यक्ति संसार में सभी को सुखी देखने के आकांक्षी थे। मानवता की पराकाष्ठा मलूकदास की साखियों में उपलब्ध होती है। कवि संसार भर के दुःख, कष्ट और दारिद्र्य को अपने सिर पर इसलिए ले लेना चाहता है कि संसार का भार हल्का हो जाये। मानवता से ही प्रेरित होकर इन सन्तों ने संसार को भाँति-भाँति के कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है।

सन्त साहित्य की सबसे प्रमुख उपलब्धि है व्यापक मानवतावादी मूल्यों की स्थापना। इनका सबसे बड़ा लक्ष्य है अतीत के अनुभव एवं ज्ञान से वर्तमान की

---

\*पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



उच्छृंखलताओं एवं अमर्यादाओं को दूर करके मर्यादा की संस्थापना। मानवता के कारण दृष्टिकोण में औदार्य का समावेश हो जाता है। कबीर यदि केवल दार्शनिक या सन्त ही रहते, तो उनकी कटुता कितनी चोट पहुँचाने वाली होती? किन्तु अभिव्यंजना विधि में उनकी कटुता बहुत कुछ मृदु हो जाती हैं और मानवता की सतह पर आ जाती है। भारतीय सन्तों का साहित्य मानवता से ओत-प्रोत है। मानवता ही कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि सन्तों के काव्य का गौरव है।

वस्तुतः सन्तों का काव्य लोकमंगल की भावना से परिचालित है, मानव धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा से प्रेरित है। इनका काव्य मनोरंजन की वस्तु नहीं है। इनका उद्देश्य काव्य-सर्जना द्वारा धन अथवा यश-प्राप्ति नहीं था। कविता कविता के लिए इनका आदर्श नहीं था। उनकी स्वानुभूति में विश्व-व्यापी अनुभूति की व्यापकता थी। लोक-वेद का अन्धानुकरण इन्हें मान्य न था। जीवनानुभव ही इनके काव्य का आधार है। ऐसे सामाजिक अथवा धार्मिक विश्वासों का इनके लिए कोई मूल्य न था, जो इनकी अनुभूति की कसौटी पर खरे न उतरते हों। इनकी कथनी और करनी में पूर्ण सामंजस्य था। तात्पर्य यह है कि इन सन्तों ने अपनी ओजस्वी वाणी से निर्बल और अस्वस्थ समाज को सबल और स्वस्थ बनाने का प्रयास किया, नंगे को वस्त्र, भूखे को अन्न सँजोने का कार्य किया, अशान्त को शान्त किया, शान्त को विश्राम दिया और निराश्रय को आश्रय दिया। इन्होंने अज्ञानियों को ज्ञान दिया, योगियों को सहज योग सिखाया, आचारहीन जनता को आचारवान बनाया, अन्धकार में भटकती मानवता को प्रकाश दिया और ईश्वर की खोज में भटकते हुए लोगों को भक्ति-रस से अवगाहन कराया। गोस्वामी तुलसीदासजी ने परदुःख कातरता को सन्त का लक्षण बताया है, जो इन पर अक्षरशः लागू होता है।

सन्तों की बानी नीतितत्त्व से आर्द्र-आह्लादित है। वह हमें शारीरिक और मानसिक परिष्कार की शिक्षा देती है। आधुनिक शब्दावली में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सन्तों की बानी नैतिक शिक्षा (Moral education) के द्वारा आदर्श नागरिकता का प्रसन्न पाठ पढ़ाती है। सन्तों ने यह भावित कर लिया था कि मानवता का अभ्युत्थान व्यक्ति-व्यक्ति के उत्कर्ष से ही सम्भव है। व्यक्ति का ही चरित्रोन्नयन मानवता का पथ प्रशस्त करेगा। यही कारण है कि सन्तों ने आन्तरिक शुद्धता पर बल दिया है। क्योंकि व्यक्ति जब तक काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि सभी विकारों से ग्रसित रहेगा तब तक वह हमेशा बेचैनी की स्थिति में रहेगा। उनके विचारों में स्थिरता नहीं आ सकती। इसके फलस्वरूप चिन्ता, ग्लानि, पश्चाताप एवं विशाद का मानव-मन में अंकुरण होता रहेगा। अतः सबसे पहले मनुष्य को आत्मशुद्धि के द्वारा अपने चरित्र को सशक्त बनाने की आवश्यकता है।

सन्तों के अनुसार बिना हृदय की शुद्धता के भगवान की प्राप्ति असम्भव है—“हरि न मिले बिन हिरदै सूध।” उनके अनुसार आचरण—शुद्धता मनुष्य का नैसर्गिक स्वरूप है। वह मानव का सहज—धर्म है। आत्मानुभूति ही परम तत्त्वानुभूति है, अकेला ज्ञान निरर्थक है, विच्छिन्न कर्म, भ्रम स्वरूप है, अतः आन्तरिक भावना की आलोकदायिनी प्रेरणा से उद्दीप्त जीवन के कर्म ही सदाचरण हैं और वही भक्ति के विधायक है। आत्मस्वरूप का साक्षात्कार ही स्वानुभूति है। सन्त, अन्तरात्मा को जीवन का विधेयक तथा अनुमापक मानते हैं। मानवीय वृत्तियों के परिष्कार को ही सन्तों ने सहज और स्वाभाविक माना है और उसकी वास्तविक प्रकृति को विकार—जन्य। इसीलिए उनकी सांस्कृतिक चेतना, मूर्ति चित्र और संगीत में अभिव्यक्त नहीं हो सकती। कृत्रिमता के वे सबल विरोधी हैं। इसीलिए जाति धर्म—व्यवस्था, सम्पत्ति, धर्माचरण, दृढ़ रुढ़ विधि—विधान को वे सहज ही छोड़ सके थे। सत्य के सहज आलोक को देख सकने में वे समर्थ हो सके थे जिसके फलस्वरूप साधनाभिव्यक्ति योग मूलक अनुभूतियों को आलोकित कर सकने में वे समर्थ हो सके थे। अन्तरात्मा की स्वच्छता में ही सत्य के सहज आलोक की झाँकी मिल सकती है। अतः मन रूपी इस दर्पण को स्वच्छ रखना आवश्यक है।

**“जो दरसन देख्या चाहिये, तौ दरपन माँजत रहिये।**

**जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई।।”**

सारा सन्त—साहित्य सात्त्विक सदाचार का सहज उच्छलन है। सन्तों ने सदाचार पर बड़ा बल दिया है। सन्तों के यहाँ सदाचार व्यक्ति के साथ समाज की एक धरोहर के रूप में आया है। सन्तों ने सकल समाज को यह उपदेशित किया है कि बाह्याडम्बरों के प्रति किसी प्रकार का लोभ—मोह—आसक्ति न रखकर आन्तरिक शुचिता पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। सन्त मलूकदास जी ने संसार की आडम्बरों के प्रति रुचि देखकर उसकी बड़ी खिल्ली उड़ायी है। उन्होंने बाह्याचारों को पीड़ादायक बताते हुए, आत्म—साधना तथा सात्त्विकता के ग्रहण पर लोगों की दृष्टि आकृष्ट की हैं—

**“साधो दुनियाँ बाबरी, पत्थर पूजन जाय।**

**मलूक पूजै आतमा, कछु माँगै कछु खाय।।”**

सन्तों ने सत्य से बड़ा कोई धर्म और पुण्य नहीं माना है। गुरु नानक का विश्वास है कि परमात्मा के सम्मुख सम्मान प्राप्त करने के लिए सत्य और श्रम का आश्रय लेना चाहिए। सत्य की कमाई ही श्रेयस्कर होती है। झूठी बातें करने से झूठ ही पल्ले पड़ता है। सन्त कबीर तो सत्य के बराबर कोई तप ही नहीं मानते हैं। उनका अकम्प विश्वास है कि जिसके हृदय में सत्य—अधिष्ठित है, उसी में ईश्वर का वास है। इस प्रकार, सच्चाई के आधार पर ही हरि रूपी शाह की समीपता प्राप्त करना सुगम है।

**“साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।**

**जाके हिरदे साँच है, ता हिरदे प्रभु आप।।”**

धार्मिक विद्वेष और जातिगत वैषम्य के कारण मध्यकालीन समाज में हिंसा, वैमनस्य और घृणा का साम्राज्य था। अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था से तथाकथित शूद्रों के साथ पशुवत् व्यवहार होता था, जिसका अनुभव इन सन्तों ने स्वयं किया था। सन्तों को इस सामाजिक दुर्दशा से हार्दिक क्लेश हुआ और उन्होंने प्रेम के माध्यम से विभेद और घृणा को मिटा कर बन्धुत्व-भावना और समता का प्रचार करने का स्तुत्य प्रयास किया। पोथी पढ़ने वाले पंडितों की संकुचित भावना का तिरस्कार और विरोध करते हुए उन्होंने जीवन के सारतत्त्व प्रेम का पाठ पढ़ाया। कबीर ने कहा कि पोथी-पढ़ने मात्र से कोई पंडित नहीं हो जाता है। सच्चा पंडित और ज्ञानी वही है जिसने प्रेम के मर्म को समझ लिया हो। जिसने जीवन में प्रेम-रस का स्वाद नहीं लिया, उसका इस संसार में जन्म लेना वैसे ही निरर्थक है जैसे सूने घर में अतिथि का आगमन।

**“कबीर प्रेम न चाखियाँ चखि न लीया साव।**

**सूने घर का पाहुना ज्यूँ आया त्यूँ जाव।।”**

सन्तों ने स्वार्थ को हेय और त्याज्य बताते हुए परमार्थ-परोपकार की व्यापक प्रतिष्ठा की है। नानकदेव मानते हैं कि जो व्यक्ति विद्या को विचार सहित ग्रहण करता है, वही परोपकारी है। जो व्यक्ति अपने स्वार्थ का विसर्जन करके दूसरों के लिए विनत होता है, वही गौरवान्वित होता है। रज्जबदास जी का दृष्टिकोण है कि सारा संसार स्वार्थ के वशीभूत होकर ही अपने को ठगता है। उनकी भावना है कि स्वार्थ विषतुल्य है, जबकि परमार्थ मिश्री के समान है। जब व्यक्ति के चरण परमार्थ की तरफ अग्रसर ही नहीं होते, तब व्यक्ति अपना गन्तव्य कैसे प्राप्त करे। मलूकदासजी ने परोपकार की भावना से अभिभूत होकर लोगों को यह उपदेश दिया कि संसार के सन्तप्त प्राणियों के दुःखों को दूर करके उन्हें सुख प्रदान करना चाहिए। कबीरदास जी ने कहा है कि वृक्ष स्वयं फल नहीं भक्षण करते हैं, नदियाँ अपने लिए जल का संचय नहीं करती हैं, उसी प्रकार व्यक्ति को भी परोपकार के लिए अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।

**“वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।**

**परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर।”**

कबीर तथा अन्य सन्त कवियों ने समाज में व्याप्त अज्ञान, अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड की जटिलता तथा उससे उत्पन्न वैषम्य, धार्मिक-सामाजिक कटुता, छुआछूत की भावना, मिथ्याहंकार आदि को समाप्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक समझा कि मनुष्यों में जो अहंकार की भावना व्याप्त है, कोई राजमद से ग्रस्त है, किसी को धनमद है, किसी को अपने पाण्डित्य का अभिमान है, कोई अपने रूप और यौवन के अहंकार में आत्म-विस्मृत है, उस पर प्रहार किया जाय और काल की प्रहारक क्षमता, संसार की नश्वरता तथा सामाजिक-पारिवारिक सम्बन्धों की क्षणभंगुरता का बोध

कराया जाए। वस्तुतः इन सन्तों ने यह अनुभव कर लिया था कि समस्त सामाजिक बुराईयों के मूल में व्यक्ति का अहं है। अतः यदि समाज का कल्याण करना है तो वैयक्तिक स्तर से लेकर सामाजिक स्तर तक अहंकार का उन्मूलन करना होगा। इसीलिए उन्होंने काल की अपरिहार्य शक्ति का उल्लेख किया तथा जीवन की क्षणभंगुरता को उजागर करके भक्ति की विषद् भूमि पर समरसता की नूतन दृष्टि दी। जैसा कि दादूदयाल जी ने कहा है कि अभिमान को तजकर समत्व बुद्धि-ग्रहण करना श्रेयस्कर है। जो व्यक्ति अभिमानहीन होकर रामनाम नहीं जपता है, वह सुअवसर गँवा देता है।

**“आपा पर सब दूरि करि, राम नाम रस लागि।**

**दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि।।”**

सन्तों ने क्रोध को सामाजिक एवं आध्यात्मिक दोनों के अभ्युदय में बड़ा बाधक बताया है, क्योंकि क्रोधाविष्ट स्थिति में व्यक्ति अपने विवेक को नष्ट कर लेता है और साधना या मानवीय प्रेम के लिए विवेक की अनिवार्यता असंदिग्ध है। पुष्टि के लिए सन्त रज्जब का यह कथन रेखांकनीय है कि क्रोध बोध को वैसे ही नहीं मानता है, जैसे सुवारि को बीज ग्रहण नहीं करता है। सन्तों ने क्रोध के ध्वंसक रूप की भी विवृत्ति की है। क्रोध बड़ा प्रचंड होता है। वह कलंक से भी नहीं डरता। क्रोध में आकर व्यक्ति माता, पिता, भाई, बहन, मित्र आदि का वध कर देता है। वस्तुतः क्रोध काल-सादृश होता है। इसीलिए दादूदयाल जी ने लोगों को उपदेश दिया कि क्रोध का गला काट डालना चाहिए।

**“गला गुसे का काथिये।”**

कहने का आशय यह है कि क्रोधी, स्वार्थी, अहंकारी व्यक्ति जीवन में मानवीय मूल्यों के कभी संवाहक नहीं हो सकते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ से बनी मानसिकता उसे अंधा बना देती है। सामाजिक मर्यादाओं के पालन का उसे ध्यान नहीं रहता। कहना न होगा कि मनुष्य के नाम पर वह स्वार्थ एवं लोलुपता का एकमात्र चलता-फिरता अस्थिपंजर बनकर रह जाता है। आज समाज में मानव-मानव का प्रेम और उसके बीच होने वाले भाई-चारे की भावना इसी स्वार्थ के चलते छूमंतर हो गई है। यह मानव शरीर बड़ा ही दुर्लभ है। इसमें अन्य जीवों की अपेक्षा सोचने-समझने की क्षमता अधिक होती है। फिर भी मनुष्य इसका सही उपयोग नहीं करता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सन्त कवियों ने तत्कालीन अस्त-व्यस्त समाज को देखकर जो अपनी लोकमंगलकारी वाणियाँ प्रस्तुत की, वह मानव के कल्याण हेतु तथा समतामूलक समाज की स्थापना के लिए प्रत्येक कालखण्ड में मूल्यवान बना रहेगा। इन सन्तों ने अपने साहित्य में दूषित भावनाओं को परिष्कृत करने

के लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, आशा, तृष्णा, परनिन्दा, छल-कपट, झूठ, चोरी, हिंसा आदि का वर्णन किया है। सन्तों के साहित्य की मुख्य विशेषता मानवता, धार्मिकता, राष्ट्रीयता एवं प्रगतिशीलता आदि है। भारतीय मध्यकालीन संस्कृति की एकता को बनाए रखने का प्रयास इन्हीं सन्तों ने किया है तथा दया, अहिंसा, प्रेम, भक्ति के द्वारा एक ऐसे मानवीय समाज की स्थापना का प्रयास किया जहां सभी समान हो, सुखी हो, प्रसन्न हो। निःसन्देह ये सन्त कवि सच्चे अर्थों में मानवतावादी थे।

**सन्दर्भ ग्रन्थ :-**

1. त्रिपाठी, ओमप्रकाश. सन्त साहित्य और लोकमंगल
2. सिंह, नैपाल. उत्तरी भारत के सांस्कृतिक विकास में सन्तों का योगदान
3. सिंह, वासुदेव. हिन्दी सन्त काव्य समाजशास्त्रीय अध्ययन
4. पाण्डेय, रामसजन. भक्तिकालीन हिन्दी निर्गुण काव्य का सांस्कृतिक अनुशीलन
5. पाण्डेय, भगवान देव. हिन्दी सन्त काव्य में परम्परा और प्रयोग
6. दास, श्याम सुन्दर. कबीर ग्रन्थावली
7. मलूकदास जी की बानी,
8. कबीर वचनावली
9. कबीर वाणी पीयूष
10. चतुर्वेदी. दादूदयाल
11. दादूदयाल की बानी-भाग-I

\*\*\*\*\*

## भक्ति की अवधारणा : वल्लभाचार्य के विशेष सन्दर्भ में

नवीन कुमार श्रीवास्तव\*

यह जीवन का एक सर्वानुभूत तथ्य है कि मानव मात्र में अबाध, अखण्ड, अनन्त सुख की वांछा होती है। व्यक्ति की प्रत्येक चेष्टा के पीछे उसकी यह आनन्दाकांक्षा होती है, यही उसकी समस्त कायिक-मानसिक प्रवृत्तियों की प्रेरिका है। न केवल मानव अपितु सम्पूर्ण चेतन जगत् 'परमानन्द' के आकर्षण में बँधा है एवं जीवन की क्षार-गतियों के बीच उसकी ही खोज में व्यस्त है। कस्तूरी-मृग की भाँति व्यक्ति इसे बाह्य जगत् में ढूँढ़ता-फिरता है, पर यह आनन्द उसे भौतिक जगत् में प्राप्त नहीं हो पाता क्योंकि यह जगत् परिच्छिन्न है, असीम है एवं यह आनन्द असीम से मिलता है, परिच्छिन्न एवं असीम से नहीं। क्योंकि सारा सुख, सारा निरानन्द सीमाजन्य ही तो है। संसार से मिलने वाले आंशिक आनन्द से उसकी मनःतुष्टि नहीं होती, वह तो पूर्ण की खोज में है। जीव संसार की वस्तुओं एवं व्यक्तियों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तथापि उसे वह आनन्द नहीं मिलता जिसकी उसे आकांक्षा है। वस्तुतः यह इस कारण होता है कि व्यक्ति के आनन्द विषय उतने ही परिच्छिन्न है जितना वह स्वयं। प्रेम के आलम्बन नित्य बदलते हैं, पर न सुख मिलता है न सन्तोष। प्रेम सुखस्वरूप है तथा अपने विषय के रूप में अखण्ड सुख वस्तु चाहती है। यह अखण्ड सुखात्मक वस्तु ब्रह्म या ईश्वर ही हो सकती है, जीव नहीं। यद्यपि जीव भी आनन्दस्वरूप है तथापि उसके आनन्द का परिमाण सीमित है एवं जो आनन्द है भी वह आवरणरूपा माया के दुर्भेद्य आवरणों में स्थित है। जीवस्वरूप के साक्षात्कार से भी परमानन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि जीव अणु आनन्द वाला है। व्यक्ति को यदि कहीं वह पूर्णानन्द प्राप्त हो सकता है जो वह ब्रह्म में ही हो सकता है। वस्तुतः वह निरतिशय सुखस्वरूप, आनन्दधन है। उसका आनन्द भौतिक आनन्द की भाँति नित्य एवं परिच्छिन्न नहीं अपितु असीम एवं अपरिच्छिन्न है। स्थूल जगत् में प्राप्त होने वाला परिच्छिन्न आनन्द ईश्वर के परमानन्द की ही आंशिक अभिव्यक्ति है।

यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि आनन्द का स्वरूप क्या है? यह निश्चित है कि इस आनन्द को हम भौतिक सुख से एकाकार नहीं कर सकते हैं। मानवीय सुख कभी दुख से अमिश्रित नहीं होता। वस्तुतः भौतिक जगत् में सुख-दुःख एक सापेक्ष स्थिति है। भौतिक सुख अनित्य और अस्थिर है तथा चेतना के अत्यन्त स्थूल स्तरों पर अनुभूत होता है। यद्यपि ईश्वरानन्द एक ऐसा अनुभव है जो स्वयं में पूर्ण एवं निरपेक्ष है, जिसकी प्राप्ति के अनन्तर ही व्यक्ति वास्तविक अर्थ में 'आनन्दी' बन पाता है। यही लोकोत्तर आनन्द ही मानव की सर्वोच्च स्पृहा का विषय है, उसका चरम साध्य है। यही

---

\*जनरल फेलो (आई.सी.पी.आर.), दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ज्ञान, भक्ति, योग, तप का अभीष्ट है, किसी भी मार्ग का अनुसरण करना उस परमानन्द लक्ष्य की प्राप्ति होता है।

समस्त मार्गों में भक्ति मार्ग को सहज एवं स्वाभाविक मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है; स्वाभाविक इसलिए क्योंकि यह मानवीय प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल है। मानवमात्र में एक आदर्श की पिपासा होती है, एक ऐसा आदर्श जो उसका मार्ग निर्देशन कर सकें, जो सत्य एवं शिव के सर्वोच्च प्रतिमानों का धारक हो, जिस पर वह अपनी आस्था व विश्वास अवस्थित कर सके एवं विचलित क्षणों में उसका सहारा ले सके। ऐसा आदर्श, ऐसा आलम्बन मात्र ब्रह्म ही हो सकता है।

भक्ति इस ब्रह्म प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग स्वीकार किया गया है। भक्ति सदैव सगुण साकार के प्रति ही होती है, निर्गुण निराकार के प्रति नहीं। साकार सविशेष ब्रह्म सर्वशक्तिमान सहस्र दिव्यगुणों का स्वामी है, भक्तवत्सल प्रभु है। अखण्ड आनन्दस्वरूप होने के कारण ब्रह्म ही आनन्द का विषय है। अन्य विषयक सुख कभी सत्य एवं चिरस्थायी नहीं हो सकते क्योंकि वे नित्य नहीं हैं। वस्तुतः ब्रह्म ही नित्य सुखस्वरूप है, अतः उनकी ओर उन्मुख प्रेम ही नित्य आनन्दस्वरूप हो सकता है।

भक्ति इसी उच्चतर प्रेम का विज्ञान है एवं उस परम प्रेमास्पद के निकट पहुँचने का सबसे सहज साधन है। भक्ति का प्राणतत्त्व प्रेम है। प्रेम मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियों में सबसे महत्वपूर्ण एवं गरिमामयी है। भौतिक स्तर पर यह प्रेम अत्यन्त असहाय एवं पंगु है क्योंकि यह देहेन्द्रियप्राण की स्थूल चेतनाओं में उलझकर रह जाती है एवं आध्यात्मिक स्तर पर आनन्द की अनुभूति नहीं करा पाती। भक्ति ने इसी भौतिक प्रेम का संस्कार कर उसके माध्यम से ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति करायी है। भक्ति किसी भी मानवीय सम्बन्ध का अनादर नहीं करता, वह केवल उसका केन्द्र बिन्दु बदल देती है। जो सम्बन्ध सामान्यतः व्यक्ति को संसार में उलझाते हैं, उसके पतन का कारण बनते हैं, वे ही भगवान के सम्पर्क से पवित्र और उदात्तीकृत हो जाते हैं। आलम्बन परिवर्तित हो जाने पर सम्बन्धों का स्वरूप भले ही यथावत रहे, स्वभाव बदल जाता है।

सत्य का स्वरूप निर्धारण और लक्ष्य की प्रतिष्ठा, दार्शनिक विचारणा का प्रयोजन है। तत्त्वालोकन की सार्थकता केवल लक्ष्य निर्धारण में नहीं अपितु उसकी प्राप्ति में है। यही कारण है कि प्रत्येक दार्शनिक मत में साध्य के साथ-साथ साधन की भी चर्चा की गयी है। प्रत्येक आचार्य ने साधक का परिष्करण एवं शुद्धीकरण के लिए एक साधन मार्ग निश्चित किया है, जिसे वे उस अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सबसे उपयोगी व सरल समझते हैं। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मुख्य चार साधन मार्ग बताए गए हैं— ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग और योगमार्ग। जिस आचार्य ने जिस साधन विशेष को सर्वोच्च मान्यता दी उसके आधार पर ही वह ज्ञानमार्गीय, भक्तिमार्गीय कहलाए।

आचार्य वल्लभ भक्तिमार्गीय आचार्य हैं और उनके अनुसार भक्ति द्वारा ही मानव का कल्याण शीघ्रता एवं सरलतापूर्वक हो सकता है। वल्लभाचार्य के अनुसार भक्ति मार्ग में प्रवेश पाने का एकमात्र उपाय है—श्रीकृष्ण का अनुग्रहभाजन होना। भक्ति मार्ग वल्लभाचार्य के अनुसार ‘स्वकृति साध्य’ अथवा ‘जीवपर्यन्तसापेक्ष’ नहीं है, जिस जीव पर भगवान की कृपा होती है उसे ही वह भक्तिमार्ग में अंगीकार करते हैं। इस प्रकार भक्तिमार्ग का अधिकारी वही है जिस पर भगवान की कृपा है। आचार्य वल्लभ ने ‘तत्त्वार्थदीपनिबन्ध’ में लिखा है—“कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निष्चीयते”। ‘प्रमेयरत्नार्णव’ में पुष्टिमार्ग के अधिकारी के निम्न लक्षण बताए गए हैं—

**“पुष्टिमार्गीयफलदित्सा समुद्रभूतभगवत्कृपाजन्यपुष्टिमार्ग विषयकरुचिमान्अधिकारी”**

अर्थात् पुष्टिमार्गीय फल देने की भगवदिच्छा से सप्रेरित भगवत्कृपा से उत्पन्न पुष्टिमार्ग सम्बन्धी रुचि से सम्पन्न व्यक्ति ही पुष्टिमार्ग का अधिकारी है। वल्लभ सम्प्रदाय में भगवान का अनुग्रह ही ‘पुष्टि’ शब्द का वाच्य है। श्रीमद्भागवत् का ‘पोषण तदनुग्रह’ यह वाक्य पुष्टि सिद्धान्त का आधार है। श्रीमद्भागवत् के छठे स्कन्ध में इस पुष्टि का विशेष रूप से निरूपण किया गया है तथा उसी को आधार बनाकर वल्लभ ने जिस भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया उसे पुष्टिमार्ग कहा गया। पुष्टिमार्ग में वल्लभाचार्य को साक्षात् वैश्वानर एवं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्ति अनुरागपूर्ण ईश्वर की सेवा है। यह भक्ति दो प्रकार की होती है—मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति। वेद, गीता, श्रीमद्भागवत् आदि ग्रन्थों में भगवान की आराधना करने की जो मर्यादा बतायी गयी है उसी के अनुसार आचरण करना मर्यादा भक्ति कहलाती है। पुष्टिभक्ति का तात्पर्य है ‘ईश्वर का अनुग्रह रूप’। ‘पुष्टि’ शब्द का तात्पर्य है—‘पोषण’ अर्थात् ‘कल्याण’। ‘पोषणं तदनुग्रह’ अर्थात् पोषण करना ही भगवान का अनुग्रह है। जिस प्रकार माता अपने बालक को गोद में लेकर दुलारती, सहलाती और स्नेह करती है, उसका आलिंगन करती है तो बालक प्रपुष्ट होता है, उसी प्रकार भगवदनुग्रह से जब भक्त के हृदय में भक्ति का संचार होता है तो वह इतना प्रपुष्ट हो जाता है कि वायु के झोंके उसे विचलित नहीं कर पाते। वल्लभाचार्य पुष्टिभक्ति के चार भेद स्वीकार करते हैं— प्रवाह पुष्टि, मर्यादापुष्टि, पुष्टिपुष्टि तथा शुद्धीपुष्टि। भगवान को प्राप्त करने के लिए निरन्तर उनकी सेवा—प्रवाह में बहते रहना ही प्रवाह ‘पुष्टि भक्ति’ कहलाती है तथा इसका आचरण करने वाले प्रवाहपुष्ट भक्त कहलाते हैं। वेदोक्त मर्यादा का पालन करके विषयों से मुक्ति दिलाने वाली भक्ति ‘मर्यादापुष्टि’ कहलाती है। मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा को प्रपुष्ट करने वाली भक्ति पुष्टि भक्ति कहलाती है। इससे भगवान तथा परिकर—वर्ग के प्रति दृढ़ अनुराग



होने लगता है तथा इसका आचरण करने वाले पुष्ट भक्त कहलाते हैं। शुद्ध पुष्टि भक्ति प्रेम प्रधान है यह प्रेम भगवान की सेवा, सुश्रुषा, श्रवण—कीर्तन आदि से पैदा होती है। यह भगवान के अनुग्रह से प्राप्त होती है तथा इसका आचरण करने वाले संसार में विरले ही हैं।

वल्लभाचार्य के अनुसार जीव की पुष्टि एकमात्र प्रभु के अनुग्रह या कृपा द्वारा ही संभव है, अतः पुष्टिमार्गीय को केवल भगवदनुग्रह की कामना करनी चाहिए। पुष्टिमार्गीय भक्त की भगवान के प्रति वही भावना होनी चाहिए जो सेवक की स्वामी के प्रति होती है। एकादश स्कन्ध में उद्धव ने यही बात कही है कि 'आपके द्वारा अपयुक्त माला, सुगन्धि और वस्त्रालंकारों से सुशोभित आपका उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने वाले हम आपके दास आपकी माया को जीत लेते हैं।'¹

पुष्टिमार्ग की शिक्षा दो सोपानों में पूरी होती है— कंठीधारण और ब्रह्मसम्बन्ध। कंठीधारण में गुरु शिष्य को 'श्रीकृष्णशरणं मम्' इस 'अष्टाक्षर मंत्र' का तीन बार उच्चारण करवाकर शिष्य के गले में तुलसी की माला पहनाता है। ब्रह्मसम्बन्ध में गुरु शिष्य को चौरासी अक्षरों का गद्य मंत्र उच्चरित करवाते हैं जिसमें शिष्य कहता है कि वह कृष्ण के वियोग से अत्यन्त दुःखी है और वह अपना सब कुछ कृष्ण को अर्पित करता है। इस दीक्षा के बाद प्रत्येक पुष्टिमार्गीय अपना कर्तव्य समझता है कि वह कुछ भी करे भगवान को अर्पित करते हुए करे। वल्लभाचार्य अनेकशः यह कहते हैं कि असमर्पित वस्तुएँ दोषयुक्त होती हैं और उसके उपयोग से स्वयं में भी दोष आने की सम्भावना रहती है, अतः अनिवेदित वस्तुओं का उपयोग नहीं करना चाहिए। समस्त कार्यों के प्रारम्भ में ही वस्तुएँ भगवदर्पित कर देनी चाहिए।² पुष्टिमार्ग के इस आत्मसमर्पण के पीछे अहंकार और आसक्ति की निवृत्ति का महत् उद्देश्य है। व्यक्ति की सांसारिक व्यक्तियों के प्रति जो प्रगाढ़ ममता रहती है, वही आसक्ति है और आसक्तिजन्य ही बन्धन का कारण है। जब इस बात का बोध हो जाता है कि सब कुछ श्रीकृष्ण का है, श्रीकृष्ण के लिए है तो पदार्थों में जो मोह और अभिनिवेश है वो समाप्त हो जाता है और यहाँ स्वीयत्वबुद्धि नहीं रह जाती।³ वल्लभाचार्य ने तृतीय स्कन्ध की सुबोधिनी में लिखा है जो भगवदीय होकर सर्वदा देहादि द्वारा 'भगवदीय' कार्य करता है वही 'महाभागवत्' है।⁴

पुष्टिमार्ग में शरणागति का भी विशेष महत्त्व है। शरणागति का तात्पर्य है— अपनी अकिंचनता और असहायता का अनुभव करते हुए स्वयं को पूर्णतया उनकी कृपा पर आश्रित छोड़ देना। शरणागति का सभी सम्प्रदायों में विशेष महत्त्व रहा है। रामानुजाचार्य ने भी शरणागति को भगवत्प्राप्ति और मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन स्वीकार किया है। रामानुजाचार्य इसे प्रपत्ति कहते हैं तथा प्रपत्ति के छः अंग स्वीकार करते हैं—

- क. ईश्वर के अनुकूल विचार और संकल्प करना।
- ख. ईश्वर के प्रतिकूल विचार और संकल्प न करना।
- ग. ईश्वर द्वारा रक्षा किए जाने पर विश्वास करना।
- घ. ईश्वर द्वारा रक्षा किए जाने की प्रार्थना करना।
- ङ. ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण।
- च. ईश्वर के प्रति दैन्य भाव।

वल्लभाचार्य ने शरणागति का जो रूप बताया है उसमें उपरोक्त सभी विचार आ जाते हैं। पुष्टिमार्ग में शरणागति का महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि पुष्टिमार्ग शरणागति से ही प्रारम्भ होता है। वल्लभाचार्य का स्पष्ट मत है कि व्यक्ति भगवान का दास है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने दास्य धर्म का निर्वाह करें। सर्वदा भगवान की इच्छापूर्ति और आज्ञापालन के लिए तत्पर रहे, उसका इतना ही कर्तव्य है। भगवान शरणागत के प्रतिपालन का धर्म स्वयं ही पूरा करेंगे।<sup>५</sup> गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि—जो व्यक्ति अनन्यभाव से मेरी उपासना करते हैं, जिनका चित्त मुझमें ही लग रहता है उनके योग-क्षेम का उत्तरदायित्व मैं ही वहन करता हूँ।<sup>६</sup>

पुष्टिमार्ग में आत्मसमर्पण एवं शरणागति के साथ-साथ सेवा का भी विशेष महत्त्व है। पुष्टिमार्ग में अष्टप्रहर सेवा का कार्यक्रम निश्चित रहता है और उनके सम्प्रदाय के मन्दिरों में तदनुसार ही सेवा होती है। पुष्टिमार्ग में सेवा के तीन प्रकार स्वीकार किए गए हैं—तनुजा, वितजा और मानसी। तन से की गयी सेवा 'तनुजा' कहलाती है परन्तु यहाँ तात्पर्य सिर्फ देह से नहीं अपितु देहजन्य सम्बन्ध से भी है; अर्थात् स्त्री, पुत्र, परिवार आदि के माध्यम से भी जो भगवत्सेवा की जाती है वह भी 'तनुजा' के अन्तर्गत ही आती है। 'वितजा' अर्थात् धन-वैभव से की गयी सेवा। मानसी अर्थात् मन से की गयी सेवा। इसमें चित्त की सभी गतियाँ कृष्ण में लीन हो जाती हैं और बाह्य संवेदना से सर्वदा के लिए शून्य होकर निर्बाध रूप से 'अखण्डतैलधारावत्' श्रीकृष्ण का ही अनुचिन्तन होता है।<sup>७</sup> वल्लभाचार्य मानसी सेवा को सबसे प्रमुख स्वीकार करते हैं और सिद्धान्तमुक्तावली में वे स्वयं कहते हैं—'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।'

तनुजा, वितजा सेवाओं द्वारा व्यक्ति की बहिर्मुखी दैहिक और मानसिक वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाया जाता है। जब तक देहेन्द्रिय और मन की वृत्तियों का संस्कार नहीं होता तब तक मानसी सेवा का उदय तथा मनः स्थिति की कल्पना भी नहीं हो सकती। अतः वल्लभ मानसी सेवा को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुए भी उसकी सिद्धि के लिए तनुजा तथा वितजा सेवाओं को आवश्यक मानते हैं। इसके द्वारा संसार के दुःख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध होता है। जिन पुष्टिमार्गीय भक्तों को अपने और ब्रह्म के

वास्वविक स्वरूप का बोध नहीं होता है उन्हें पूजा, उत्सव आदि तनुजा, वितजा सेवाओं का अनुष्ठान करना चाहिए।<sup>8</sup>

वल्लभाचार्य आत्म-निवेदन पर भी अत्यधिक बल देते हैं। उनके अनुसार जो भक्त अपने समस्त अभाव और असमर्थता के साथ भगवान के सामने प्रणत हो जाता है, भगवान उसे अपनी शरण में से लेते हैं, फिर वह उसकी योग्यता-अयोग्यता पर विचार नहीं करते। रामानुजाचार्य ने भगवद्भक्तों की दो स्थितियाँ बतायी हैं— मार्जरकिशोर की भाँति एवं मार्कटकिशोर की भाँति। वल्लभाचार्य के अनुसार भक्त का भगवान के प्रति समर्पण वैसा ही होना चाहिए जैसा कि मार्जरकिशोर अर्थात् बिल्ली के बच्चे का बिल्ली के प्रति। बिल्ली का बच्चा स्वयं अपनी रक्षा के लिए कुछ नहीं करता। वह पूर्णतः बिल्ली पर आश्रित रहता है वही उसे मुँह में दबाए संकटों से बचाती फिरती है। भगवान की कृपा शक्ति भी इसी प्रकार अपने निस्साधन भक्तों के योग-क्षेम की रक्षा करती है। भक्त को चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त मर्कट-किशोर अर्थात् बन्दर का बच्चा जो अपनी ओर से बन्दरिया से चिपका रहता है, बन्दरिया उसे नहीं पकड़ती है, ठीक इसी प्रकार साधना मार्ग में व्यक्ति अपनी ओर से प्रयत्नशील रहता है और भूल होने पर इसमें पतन की सम्भावना रहती है। यह स्थिति प्रायः ज्ञानी भक्तों की होती है। भक्त तो निश्चिन्त होकर बिल्ली के बच्चे की भाँति भगवान के चरणों में पड़ा रहता है, उसके योग-क्षेम की व्यवस्था तथा भक्ति मार्ग पर लें जाने का प्रबन्ध भगवान ही करते हैं। यदि कभी भक्त का हाथ छूट जाता है तो भगवान उसे सम्भाल लेते हैं, गिरने नहीं देते।

पुष्टिमार्ग में वेदोक्त और शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक नहीं है। कृष्ण प्रेम से बढ़कर पुरुषार्थ रूप कुछ और नहीं है। पुष्टिमार्ग के अनुसार जब समस्तफलस्वरूप ओर सर्वकामप्रद श्रीकृष्ण ही हृदय सिंहासन पर विराजमान हैं तो लौकिक-अलौकिक फलों की इच्छा से शास्त्रोक्त ओर वेदोक्त साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता ही क्या है?<sup>9</sup> सामान्य रूप से वल्लभाचार्य इनकी उपयोगिता को अस्वीकार भी नहीं करते हैं।

‘तत्त्वार्थदीपनिबन्ध’ के ‘सर्वार्थनिर्णय प्रकरण’ में वल्लभाचार्य ने भक्तिमार्ग के सन्दर्भ में आश्रम तथा श्रौत व स्मार्त आचार्यों की स्थिति पर विचार कर उन्हें मान्यता प्रदान की है। यह आवश्यक है कि उनका भक्तिपूर्ण कृत्व आवश्यक हो। वल्लभाचार्य के अनुसार वेदमार्ग का निर्माण भी तो भगवान ने ही किया है अतः उनके अप्रामाण्य तथा अनुपयोगित्व की शंका भी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने वेदोक्त कर्मकाण्ड और स्मार्त आचार्य पद्धति को भी अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया है; परन्तु यह भक्ति की अपेक्षा गौण है।

पुष्टिमार्ग में भक्त प्रायः गृहस्थ ही रहते हैं, सन्यास ग्रहण नहीं करते। इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि वल्लभाचार्य भक्तिमार्ग में सन्यास की अनुमति नहीं देते

हैं, भक्तिमार्ग में भी सन्यास होता है किन्तु वह पूर्ण भगवद् भक्तों के लिए ही हैं। यह सन्यास स्मार्त सन्यास नहीं है, न ही इसके लिए विधि-विधान या बाह्य प्रक्रिया सम्पन्न करने की आवश्यकता होती है। यह सन्यास मन का है, जब भगवान में अनन्य आसक्ति हो जाती है तो संसार से विषयों से, गृह-परिवार से स्वतः ही व्यक्ति विरक्त हो जाता है। वल्लभाचार्य जी के अनुसार-सन्यास वह है जिसमें व्यक्ति की सभी दैहिक, मानसिक वृत्तियों का भगवदोन्मुख और भगवन्मय हो जाना है। इस स्थिति में सांसारिक विषयों से अरुचि हो जाती है और वही कृष्णभक्ति का रूप ले लेती है।

यह सन्यास ज्ञानमार्गीय चतुर्थ आश्रम रूप सन्यास से भिन्न है इसके नियम — धर्म भी भिन्न है। यह सेवा तनुजा, वितजा न होकर मानसी सेवा का रूप है। यह सन्यास अत्यन्त दुर्लभ है और केवल प्रेमबल से सिद्ध होता है। वल्लभाचार्य जी ने ज्ञान, कर्म, तप आदि को भी भगवद्प्राप्ति के साधनों में स्वीकार किया है परन्तु भक्ति को समन्वित करके ही। वल्लभाचार्य के अनुसार यह सभी पुरुषार्थ साधक है परन्तु भक्ति के साथ समन्वित होकर ही स्वतन्त्र रूप से नहीं। वल्लभाचार्य ने भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ माना है उनके अनुसार हमें जो आनन्द मुक्ति में मिलता है वही कृष्ण भक्ति में भी है। जब आत्म निवेदन और सेवा के माध्यम से भगवदनुराग दृढ़ हो जाता है तो व्यक्ति स्वयं विरक्त हो जाता है। इसमें किसी बाह्य विधि-विधान की आवश्यकता नहीं होती है। अतः पुष्टिमार्ग प्रवृत्ति मार्ग है और यह प्रवृत्ति स्वयं निवृत्तिमयी है।

इस आधार पर इस निष्कर्ष का निर्धारण किया जा सकता है कि वल्लभाचार्य ने शरणागति, आत्मसमर्पण और सेवा को मुक्ति मार्ग के साधन के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि तपस्या से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तथापि उनका अनुष्ठान कष्ट — साध्य है। इसीलिए वल्लभाचार्य ने सेवा भक्ति का आश्रय लिया है। सेवा से अनायास ही वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं और वासना के न रहने से निर्मल अन्तःकरण ईश्वराभिमुख हो जाता है। ज्ञान-ध्यान, जप और संयम आदि सेवा से ही चरितार्थ होते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट परिलक्षित है कि वल्लभाचार्य ने शरणागति, आत्मसमर्पण एवं सेवा भक्ति की जिस ज्योति को प्रकाशित किया, वह मानव के कल्याणार्थ मानव को नयी दिशा देने का प्रयास है। वर्तमान समय में मनुष्य अहंकार की पुष्टि हेतु पशु बनने में भी गौरवान्वित महसूस करने लगा है। भौतिकता के प्रति बढ़ती आसक्ति ने जैसे मानव जीवन की शान्ति को हमेशा के लिए छीन लिया हो। ऐसे में निःसन्देह वल्लभाचार्य ने न केवल आध्यात्मिक जीवन की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है अपितु अपने पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त से सम्पूर्ण मानव जीवन को भी संयत और परिवर्तित करने का भी प्रयास किया है।

### सन्दर्भ सूची :

1. त्वयोपभुक्त रत्रग्गन्ध्वासोऽलंकारचर्चिता  
उच्छिष्टभोजनो दासास्तव माया जयेमहि । – श्रीमद्भागवत् एकादश स्कन्ध
2. निवेदिभिः समप्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः  
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।। – सिद्धान्तरहस्यम् 5 और 6
3. समस्त विषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि  
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते । – पुष्टिमार्गनिरूपणम् ।
4. यस्तु भगवदीयो भूत्वा भगवदीयमेव देहादिभिः करोति जानाति स भागवत यस्तु  
सर्वदैव तथा विद्यः स महाभागवत । – सुबोधिनी 3/14/47
5. आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ।  
सेवकस्य तु धर्मोऽयं, स्वामी स्वस्य करिष्यति ।। – अंतः करण प्रबोध, पृ०सं०-4
6. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना प्रभुपासते  
तेषां नित्याभियुक्तानां भोग क्षेमं वहाम्यहम् ।। – श्रीमद्भावगत् 9/22
7. चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धमैतनु वितजा  
ततः संसादुःखस्य निवृत्तिं ब्रह्मबोधनम् । – सिद्धान्तमुक्तावली, पृ०सं०-2
8. ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गं तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु । – सिद्धान्तमुक्तावली, पृ०सं०-17
9. यदि गोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मनाहृदि ।  
ततः किमपर ब्रूहि लौकिके वैदिकैरपि । – चतुश्लोकी, पृ०सं०-3

\*\*\*\*\*

## साम्प्रदायिक सद्भाव के क्रान्तिदूत 'सन्तकबीर'

भागीरथी\*

वर्तमान समय में साम्प्रदायिकता भयावह रूप में हमारे सामने खड़ी है। आज साम्प्रदायिक वैमनस्य के अनेक नये पहलू उभर कर हमारे सामने आ रहे हैं, जैसे—हिन्दू—मुस्लिम विवाद, हिन्दू—ईसाई विवाद, मुस्लिम—सिक्ख विवाद, हिन्दू एवं नवबौद्ध विवाद एवं मुस्लिम—ईसाई विवाद। यह साम्प्रदायिक विवादों की बहुत छोटी सूची है। वास्तव में यह सूची बहुत लम्बी हो सकती है। ये सभी विवाद कब साम्प्रदायिक तनाव पैदा कर दें, निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। 1992 के बाबरी मस्जिद विवाद की परिणति हम बहुत बड़े साम्प्रदायिक तनाव के रूप में देख चुके हैं। उस विवाद के परिणाम स्वरूप ही आज कई धार्मिक स्थल विवाद के केन्द्र बन चुके हैं। निश्चित रूप से समाज में व्याप्त यह साम्प्रदायिकता मानवीय गरिमा के विरुद्ध है। मानव ने 21वीं सदी तक के चरम विकास के ऊंचाईयों को छूआ है। उसके पीछे अवश्य ही परस्पर मानवीय प्रेम एवं सहभागिता का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यदि आज हम इस विचार को नकारने की कोशिश करते हैं तो निश्चित रूप से हम सभ्यता के विकास की ओर न बढ़कर पीछे की ओर लौट रहे होंगे। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए की पीछे लौटने की प्रवृत्ति मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध है। यह मानवीय स्वभाव है कि वह उच्च से उच्चतर की ओर अग्रसर होना चाहता है। लेकिन आज हम साम्प्रदायिकता की बेड़ियों में जकड़कर मानवीयता की मूल भावना को भुला बैठे हैं।

साम्प्रदायिकता ने हमें अनेक जख्म दिये हैं जिन्हें भुला देना ही हमारे लिए उचित है। थोड़ा उनके विषय में सोचकर देखिये जिन्होंने इसकी आग में अपने माँ, बहन, भाई, पिता और पुत्र को जलते देखा है। क्या मनुष्य का जीवन इतना क्षुद्र है कि वह धार्मिक लड़ाईयों की भेंट चढ़ता रहे। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे गिरजाघर तो फिर से बनाये जा सकते हैं, परन्तु क्या उस व्यक्ति को पुनर्जीवित किया जा सकता है जो इन लड़ाईयों में मारा गया। इसी तरह के न जाने कितने सवाल हमारे मन को उद्देलित करते रहते हैं। हम उस महान परम्परा की संतान हैं जिसका मूल मंत्र रहा है 'सर्वे भवन्तु सुखिनः'। सभी के सुखी होने की कामना में ही अपना भी सुख छिपा है। अतः जब हम दूसरे को दुःख देकर सुख पाने की आशा रखते हैं तो वह निरर्थक हो जायेगा। हमारी आशा पूरी नहीं होगी। पर इस मूल विचार को हम भूल जाते हैं जिससे साम्प्रदायिक समस्या पैदा होती है। हमारे पास विचारकों की एक लम्बी परम्परा है जिन्होंने समय—समय पर हमारी चेतना को उद्बोधित किया है। जब भी हमारे पग गलत दिशा में बढ़े तो उन्होंने हमें सही राह दिखायी। धर्म के विषय में आज हमारी यही स्थिति है हमारे विचार इतने संकीर्ण हो गये हैं कि हम कुछ समझने के लिए तैयार नहीं हैं। ऐसी स्थिति में संत कबीर के नाम का स्मरण हो जाता है। संत कबीर ने जिस तरह से

---

\*पूर्व शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

साम्प्रदायिक सद्भाव को स्थापित करने का प्रयास किया। वह साम्प्रदायिक समस्याओं के निराकरण में सहायक हो सकता है।

संत कबीर मध्यकाल के ऐसे क्रान्ति-पुरुष हैं, जिन्होंने साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जमकर आवाज उठायी थी। उनका सीधा सा सिद्धान्त था 'ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर'।<sup>1</sup> पर इसके बीच में सबकी 'खैर' मनाना वे नहीं भूलते हैं। जब हम सबके हित की बात करेंगे तो निश्चित रूप से द्वन्द्व की सम्भावना समाप्त हो जाएगी। द्वन्द्व या द्वैत विचार के कारण ही वैचारिक वैमनस्य उत्पन्न होता है। वैचारिक वैमनस्यता साम्प्रदायिकता की मूल जड़ है। संत कबीर ने इसे अच्छी तरह से समझा और इसके निराकरण के लिए अपने तात्त्विक चिन्तन को समाज के लोगों के बीच बांटना शुरू किया। उन्होंने अपनी आत्म-साधना के बल पर यह ज्ञान लिया था कि जगत् में जो भी भेद हैं चाहे वे वैचारिक हो या तात्त्विक, माया या अज्ञान के कारण हैं। मूल तत्त्व तो एक है, अद्वैत है। वह सर्वत्र एवं सब घट में व्याप्त है। अतः मानव-मानव में भेद कैसा ? मंदिर-मस्जिद की लड़ाई कैसी? धर्म एवं सम्प्रदाय के नाम पर लड़ाई कैसी ? ये तो निरर्थक हैं। इसीलिए संत कबीर इस समस्या के लिए जिम्मेदार लोगों से प्रश्न करते हुए कहते हैं —

**जो खुदाय मसीत बसतु हैं, अवर मुलुक केही केरा।**

**तीरथ मूरत में राम निवासी, दुईमा किन्हू न हेरा ।<sup>2</sup>**

यदि खुदा केवल मस्जिद में बसता है, तो क्या अन्य स्थान उससे रहित है ? उसी तरह यदि 'राम' केवल तीर्थ एवं मूर्ति में निवास करते हैं तो क्या अन्य स्थान उनसे परे हैं ? कबीर कहते हैं कि — 'मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि खुदा की खुदाई तथा राम की रमराई सर्वत्र विद्यमान है। संसार का कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जो उस परम तत्त्व के प्रकाश से प्रकाशित न हो।'<sup>3</sup> फिर लड़ाई किस बात की। केवल इसलिए कि राम-रहीम अलग हैं। कबीर कहते हैं कि—एक ही वस्तु का अलग-अलग नाम रख देने से क्या उस वस्तु में परिवर्तन हो जाता है? वस्तु के स्वरूप का कोई परिवर्तन नहीं होता। वह तो वैसा का वैसा ही रहता है। व्यावहारिक जगत् में भी इस तथ्य को हम देख सकते हैं। एक ही वस्तु के देशकाल एवं परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग नाम रखे जाते हैं। उन अलग-अलग नामों से अभिहित वस्तु को एक जगह इकट्ठा किया जाय तो हमें एक ही प्रकार के वस्तु की प्राप्ति होगी। अतः नाम के भ्रम में न पड़ कर उसकी एकता को जाने। इसीलिए कबीर कहते हैं—

**भाई रे दुई जगदीश कहां ते आया, कहु कौने बौराया।**

**अल्ला राम करीमा केसव, हरि हजरत नाम धराया ।।**

**गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा ।**

**कहन सुनन को दुई कर थापे, एक निमाज एक पूजा ।।**

**वोही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्म आदम कहिये।**

**को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जीमी पर रहिये।<sup>4</sup>**

अतः हमें लड़ाई नहीं करनी चाहिए। राम-रहीम में भेद करके लड़ाई करने वालों से कहते हैं कि—‘राम एवं रहीम एक ही है, केवल कहने सुनने के लिए लोगों ने अपनी आवश्यकतानुसार दो नाम रख लिए हैं। अतः दो नामों को सुनकर उस परम तत्त्व के एकत्व को नहीं भूलना चाहिए। संत कबीर की यह स्पष्ट धारणा है कि ‘जो सबके घट में बोलने वाला है वह जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय से ऊपर है। तभी तो वे कहते हैं—

**कहैं कबीर सुना रे भोंदू, बोलन हार तुरक ना हिन्दू ।<sup>१</sup>**

अतः हमें बाह्य चीजों के लिए लड़ाई नहीं करनी चाहिए। समग्र रूप से एक वैचारिक सूझ उत्पन्न करने के लिए कबीर कहते हैं—‘ईश्वर हिन्दू एवं मुसलमान में भेद नहीं करता है। दोनों उसकी ही संतान है। अतः दोनों सम्प्रदायों के लोगों को अपने-अपने हठ छोड़कर प्रेम के साथ रहना चाहिए। इसलिए वे दोनों सम्प्रदायों के लोगों को समझाते हुए कहते हैं —

**हमरे राम रहीम करीमा केसव, अलह राम सति सोई ।**

**विसमिल मेटि विसंभर एकै, और न दूजा कोई ।।**

**अरध उरध दसहूँ दिसि जित तित पूरी रहा रामराई ।**

**हिन्दू तुरुक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ।।<sup>२</sup>**

अर्थात् भ्रम में न पड़कर उस एक परम तत्त्व को जानना है जो सर्वत्र व्याप्त है। जिसे किसी मंदिर-मस्जिद की अपेक्षा नहीं है। अतः निश्चित रूप से हमारी लड़ाई निरर्थक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत कबीर हमें साम्प्रदायिक सद्भाव के प्रतीक पुरुष के रूप में प्राप्त होते हैं। यद्यपि उन्होंने साम्प्रदायिक सद्भाव की जो बातें कही हैं वह हिन्दू एवं मुसलमानों को ध्यान में रखकर कही हैं, तथ्यपि इसकी मूल भावना सभी धर्म एवं सम्प्रदायों पर लागू होती है। सभी साम्प्रदायिक तनाव चाहे वे किसी धर्म एवं जातियों के बीच हो निजी स्वार्थ एवं अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है और संत कबीर ने इसी मूल समस्या का समाधान करना चाहा था। निश्चित रूप से वे इसमें सफल रहे हैं।

**संदर्भ :-**

1. मुदिदास, व्यास. (सम्पा.) साखी सार, पृ0सं0—7
2. शास्त्री, आचार्य गंगाशरण. (भाष्यकार) चौरासी अंग की साखी, भाग—1, पृ0सं0—292.
3. खालिक बिन खाली नहीं, सुई जेता संसार।  
वही, पृ0सं0—292
4. शास्त्री, आचार्य गंगाशरण. (सम्पा.), बीजक, सबद 30.
5. दास, श्यामसुन्दर. कबीर ग्रंथावली, पद 56.
6. वही, पद 58.

\*\*\*\*



## प्रसाद का आनंद संदेश एवं मूल्यदृष्टि

अनूपा कुमारी\*

साहित्यकार किसी भी रूप में, किसी भी स्थिति में समष्टि की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि यह दुराग्रहपूर्वक ऐसा करता भी है तो, उसका साहित्य उस संजीवनी शक्ति से विहीन हो जाता है जो उसे स्थायित्व प्रदान करती है। विश्व के महान साहित्यकारों ने सदैव इस मानवतावादी मनोदृष्टि को प्रश्रय दिया है। मूर्धन्य साहित्यकार 'प्रसाद' भी उसी परम्परा की एक कड़ी हैं। उनके साहित्य में जिन आदर्शों की अभिव्यक्ति हुई है वे तिमिराच्छन्न जीवन-पथ के अमर आलोक स्तम्भ हैं। 'अदम्य उत्साह' तथा 'बौद्धिक स्थैर्य' की आधारशिला पर ही उनके जीवन संदेशों की प्राण प्रतिष्ठा हुई है। प्रसाद जी का संदेश मानवतावादी है। इसका मूलाधार सामंजस्यपरक मनोदृष्टि है।

प्रसाद का आनन्द-संदेश जीवन का प्रवृत्तिपरक आदर्श प्रस्तुत करता है। जीवन की संघर्षमयी विभीषिकाओं से घबराकर एकान्तवासी होना उन्हें प्रिय नहीं, क्योंकि दुःख की रजनी के अन्तराल से सुख का नवल प्रभात विकसित होता है। दुःखान्धकार केवल एक झीना अवगुंठन है जिसमें सुख अपने को छिपाये रखता है। हम जिसे अभिशाप के रूप में ग्रहण करते हैं वह वस्तुतः ईश का रहस्यमय वरदान होता है।

प्रसाद दुःख को आनन्द की भूमिका में ग्राह्य बताते हैं। इस ग्राह्यत्व का समर्थन वे दो आधारों पर करते हैं। करुणा के आधार पर तथा आस्तिकता के आधार पर। प्राणिमात्र का हित-चिन्तन करने वाली 'करुणा' को जन्म देने वाला दुःख, दुःख नहीं आनन्द ही है। 'एक घूंट' में उन्होंने आनन्दवादी पात्र आनन्द के माध्यम से यह विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रसाद जी के 'आनन्द-संदेश' के अनेक पक्षों को इस प्रकार देखा जा सकता है—

'आशावाद' प्रसाद के आनन्द-संदेश का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। 'श्रद्धा' के माध्यम से उन्होंने इस संदेश को प्रस्तुत किया है। प्रसाद साहित्य के अन्य अनेक आदर्श पात्रों के व्यक्तित्व की आधारशिला यह आशावाद ही है। 'तितली', 'रामनाथ', 'इरावती', 'ब्रह्मचारी', 'धातुसेन', 'चन्द्रगुप्त', 'चाणक्य' आदि ऐसे ही पात्र हैं। जीवन-संघर्ष से घबराना प्रसाद जी को स्वीकार नहीं। वे हँसते हुए उसका सामना करने के पक्षपाती हैं। वे उन दार्शनिकों से भिन्न मंत्र रखते हैं जो संसार को दुःखमय कहकर निराशा तथा अनास्था का प्रसार करते हैं। वे आनन्दमयी आशा की अग्नि में निराशा की भावना को भस्म कर देने के समर्थक हैं।

कर्मठता प्रसाद के आनन्द-संदेश की आधारशिला है। कर्म के बिना जीवन में

आनन्द की उपलब्धि संभव नहीं। कर्मयोग उनका आदर्श है। जो निर्दिष्ट कर्तव्य है उनको प्रसन्न भाव के साथ धैर्यपूर्वक पूरा करना चाहिए। इस कर्मठता के साथ 'अहंभावहीनता' परमावश्यक है। कर्म में अहं बुद्धि नहीं होनी चाहिए। अहंबुद्धि होने से कर्म का रूप व्यक्तिपरक हो जाता है जिससे समष्टि का अहित भी हो सकता है। 'कामायनी' के 'कर्म' सर्ग में प्रसाद जी ने कर्म का संकुचित वैयक्तिक रूप प्रस्तुत किया है। मनु अपने निजी सुख के लिए समस्त कर्म करते हैं। उन्हें अपने कर्तृत्व का अभिमान हो जाता है जिसका परिणाम बड़ा दुःखद होता है। प्रसाद जी ने अहंभावयुक्त कर्मठता का परिणाम चित्रित करके इस आदर्श की ओर इंगित किया है कि कर्मयोगी को अहंभावहीन होना चाहिए। इस अहंभावहीनता के लिये प्रसाद जी ने दो मान्यताओं का प्रतिपादन किया है—

1. प्रकृति के द्वारा समस्त कार्य अपने-आप होते रहते हैं।
2. नियति की गतिविधि पर मनुष्य का कुछ भी वश नहीं चलता मानव कर्मों के निष्पादन में निमित्त मात्र है।

इन दोनों धारणाओं के आधार पर प्रसाद ने मानव के अहंभाव को समाप्त करने का प्रयास किया है और उन्हें पूरी सफलता प्राप्त हुई है। प्रसाद ने इस अहंभावहीन कर्मठता के संदेश के द्वारा मानवता का बहुत बड़ा उपकार किया है। उदात्त वृत्तियों का उदय तभी संभव है जब मानव-हृदय सामान्य लोक-भूमि पर पहुँच जाये। उन्होंने 'अजातशत्रु' में 'जीवक' को इस संदेश के प्रतिनिधि पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है।

आनंद की सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए प्रसाद जी ने 'करुणा' का विधान किया है। इसे 'लोक-संवेदना' कहा जा सकता है। प्रसाद ने समाज के समक्ष भी करुणा का आदर्श अतीव सबल शब्दों में रखा है और उससे उसके पालन का सदाग्रह किया है। 'पत्थर की पुकार' कहानी में संवेदनहीन कला प्रेमी के प्रति 'शिल्पी' का यह कथन प्रसाद जी के इस सदाग्रह का पूर्ण परिचायक है। "क्या कभी दुःखी हृदय के नीरव क्रंदन को भी अन्तरात्मा के श्रवणेन्द्रियों को सुनने देते हैं जो करुणा का काल्पनिक नहीं किन्तु वास्तविक रूप है।"<sup>1</sup>

'झरना' संग्रह की 'तुम' कविता में उनका प्रेरणात्मक अनुरोध कितना हृदयहारी है—

“दीन दुःखियों को देख आतुर अधीर अति,  
करुणा से, साथ उनके भी कभी रोने चलो।  
थके श्रमी जीवों के पसीने भरे सीने लग,  
जीने को सफल करने के लिए सोते चलो।।  
भूल, भोले बालकों के इस विश्व खेल में भी,  
लीला से ही हार और श्रम सब खोते चलो

**सुखी कर विश्व, भरे स्मित सुखमा से मुख  
सेवा सबकी हो तो प्रसन्न तुम होते चलो।”<sup>2</sup>**

प्रसाद ने ‘करुणा’ की इस धारणा के अन्तर्गत सामाजिक साम्य का भी सन्देश दिया है। सामाजिक वर्ग तथा वर्ण वैषम्य को वे मानवता के विकास का विरोधी मानते हैं। ‘कंकाल’ उपन्यास में उन्होंने ‘भारतसंघ’ के द्वारा इस संदेश की अभिव्यक्ति करायी है।

सामंजस्य को हम अनेक प्रतिकूल अथवा उदासीन परिस्थितियों में पारस्परिक अनुकूल्य-स्थापन कह सकते हैं। प्रसाद का मत है कि मनुष्य के जीवन में इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया का सामंजस्य होना चाहिए। ज्ञान के दूर होने पर, क्रिया के भिन्न होने पर मन की इच्छा का पूरा होना असंभव है। इन तीनों का न मिल सकना जीवन की एक दुःखद विडम्बना है।<sup>3</sup> श्रद्धा अथवा आस्तिक बुद्धि का उदय हो जाने पर इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया में सामंजस्य हो जायेगा। प्रसाद ने सांस्कृतिक मान्यताओं में भी सामंजस्य की स्थापना का संदेश दिया है। वे पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विचारधाराओं में समन्वय करना चाहते हैं। दोनों के संयोग से ही पूर्णता सम्भव है। वे पश्चिम की विकासवादी भौतिक-दृष्टि को लौकिक सौख्य के लिए वांछनीय मानते हैं। इस समन्वय से व्यावहारिक जीवन में आनन्दोपलब्धि होगी इसमें संदेह नहीं।

प्रेम आनन्दानुभूति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। प्रसाद की धारणा है कि स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य की त्रयी में प्रेम को सम्मिलित कर लेने से विश्व के लिए आनन्द का मार्ग खुल जाता है। प्रसाद ने प्रेम को रूपजन्य मोह से इतर माना है। रूपजन्य मोह व्यक्तिगत होता है, संकुचित होता है, परन्तु प्रेम उदार होता है, अनन्त होता है। प्रसाद का आदर्श विशुद्ध प्रेम है, रूपजन्य मोह अथवा वासना नहीं। ‘प्रेमपथिक’ में कामुकता की भर्त्सना की गई है। ‘कामायनी’ में मनु का पराभव उनकी स्वच्छन्द वासना के ही कारण होता है। ‘कामना’ नाटिका में विलास, लालसा आदि पात्रों का सर्वनाश उनकी निर्बाध विलासिता के कारण होता है। ‘एक घूंट’ में आनन्दवादी पात्र ‘आनन्द’ के मुक्तप्रेम के आदर्श को अन्ततः एकनिष्ठता में पर्यवसित करके प्रसाद ने अपने इस मन्तव्य को सुस्पष्ट कर दिया है।

जीवन की आनन्दसिद्धि के लिये प्रसाद आस्तिक बुद्धि को परमावश्यक मानते हैं। शिवत्व की प्राप्ति श्रद्धा के ही सहारे सम्भव है। जीवन की निराशापूर्ण क्षुब्ध स्थितियों में श्रद्धा ही उत्साहमयी कर्म को प्रेरणा देती है। भारतीय चिन्तन का भी यह केन्द्रबिन्दु है। प्रसाद ने अपने साहित्य में स्थल-स्थल पर आस्तिकता का पुण्य संदेश दिया है।

‘चित्राधार’ संग्रह की रचनाओं में उन्होंने ब्रह्म के अनेक रूपों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। ‘अष्टमूर्ति’ शीर्षक कविता में उन्होंने ब्रह्म के आठ रूपों के प्रति अपना भक्ति-भाव निवेदित किया है। प्रसाद अन्तःकरण के बाह्य मतभेदों से ऊपर उठ

गये थे, उन्हें पारमार्थिक आनंद की अनुभूति हो चुकी थी। इस अनुभूति के अनन्तर ही उन्होंने मानवता को निर्विशेष के प्रति आस्तिकता का संदेश दिया है।

‘कामना’ नाटिका में प्रसाद ने **सन्तोष तथा विवेक** का आदर्श प्रस्तुत किया है। सन्तोष तथा विवेक के बिना जीवन की आनन्द साधना पूरी नहीं हो सकती। संतोषी व्यक्ति की दशा सदैव एक-सी रहती है क्योंकि वह व्यर्थ की महत्वाकांक्षा में नहीं पड़ता। विवेकी पुरुष ऐसा कोई कार्य करता ही नहीं जो आवांछनीय है और दुःख का कारण है। जो इन दोनों की उपेक्षा करते हैं उनकी वही दशा होती है, जो ‘कामना’ में दम्भ, दुर्वृत्त, क्रूर, विलास, प्रमाद, लालसा आदि पात्रों की हुई है। ये पात्र प्रतीकात्मक हैं और नाम से व्यंजित मनोदशाओं तथा भावों के द्योतक हैं।

प्रसाद के उदार अन्तःकरण से निःसृत उनका यह बहुपक्षीय आनन्द-संदेश मानवता के सर्वांगीण विकास के लिए परम उपयोगी हैं। विधाता की कल्याणी सृष्टि भूतल पर पूर्णरूपेण सफल हो जाये। उनकी आकांक्षा थी कि मानवता की मूर्ति महानाश के क्षणों में भी दृढ़तापूर्वक अभ्युदय का उपाय करती रहे और शक्ति के बिखरे हुए विद्युत्कणों का समन्वय करके विजयिनी हो जाये। उनका मन्तव्य महान था। उनका संदेश भी उसी के समनुरूप है। सृष्टि के अन्तर्हृदयाकाश में उनके ये स्फूर्ति संवलिता शब्द अनन्त काल तक गूँजते रहेंगे—

“डरो मत अरे अमृत सन्तान, अग्रसर है मंगलमय वृद्धि।

पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र, खिंची आवेगी सकल समृद्धि।।”<sup>4</sup>

**संदर्भ :-**

1. प्रसाद, जयशंकर. ‘आंसू’, पुनर्मुद्रित, 2000, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, पृ०-85 ।
2. प्रसाद, जयशंकर. ‘झरना’, पुनर्मुद्रित, 2000, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, पृ०-35 ।
3. प्रसाद, जयशंकर. ‘कामायनी’, द्वितीय संस्करण, 2001, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, पृ०-117 ।
4. वही, पृ०-29 ।

\*\*\*\*\*

## मूल्य संकट का समकालीन परिदृश्य और हिन्दी नाटक

वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी\*

जीवन के निरन्तर विकास के चलते मूल्यों का अप्रासंगिक हो उठना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मूल्य संक्रमण प्रत्येक युग का ही अनुभव रहा है। इस प्रक्रिया में मूल्यों के ध्वंस के साथ-साथ मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया भी चलती रहती है। मानव मूल्य निरन्तर गतिशील मानव जीवन द्वारा अर्जित वह जीवन सार है जिसकी आकांक्षा मनुष्य को मानवीय सामाजिक और भविष्योन्मुख बनाने की होती है। निस्संदेह इनकी प्राथमिकता व्यक्ति नहीं समाज है। भारतीय कहे जा सकने वाले मूल्यों का सार है 'सब सुखी हों, सब निर्भय हो और सब प्रगतिशील हों। भारतीय कला संस्कृति और साहित्य की मुख्य चिंता मनुष्य की सामाजिकता और उसकी सामूहिक भावना को बचाये रखने की है। उपभोक्ता संस्कृति का सबसे बड़ा आक्रमण मनुष्य की सामाजिकता पर ही है। पूँजीवादी समाज व्यवस्था मनुष्य को उसकी जड़ों से और उसके स्वप्नों से विच्छिन्न कर उसे अकेला और अभिशप्त बनाती है। मनुष्य और मनुष्य के बीच संवाद की गुंजाइशें कम होती जाती हैं तथा दूरियाँ बढ़ती जाती हैं। सम्बन्धहीनता की इस महामारी से परिवार यहाँ तक कि दाम्पत्य भी नहीं बचता। वस्तुतः आज के मनुष्य का चरम अनुभव मूल्यों के निरन्तर ध्वंस का ही अनुभव है। परिस्थिति की इस विकरालता ने संवेदनशील मनुष्य को स्तब्ध कर दिया है। इतिहास का यह दौर मूल्य निर्माण की अनिवार्य प्रक्रिया से खाली लगता है। मुक्तिबोध ने गहरी चिंता के साथ लिखा है कि 'नये मूल्यों ने पुराने मूल्यों का स्थान नहीं लिया है।' नये मूल्यों से मुक्तिबोध का आशय था जीवन दृष्टि की वह वैज्ञानिकता जो सामंती रूढ़ियों और जड़ताओं को पूरी तरह ढहा कर नये मनुष्य का रास्ता साफ करती है। हम देखते हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी से सम्पन्न देश के इस अति आधुनिक कहे जाने वाले समय में भी सामन्ती जड़तायें पड़ी हुई हैं। जाति व्यवस्था को आज भी कोई चुनौती नहीं है। विज्ञान ने सामंती जड़ दिमाग की ऐसी भरपूर मदद की है कि बालिकायें अब गर्भ में ही खत्म की जा सकती हैं। सबसे खतरनाक बात यह है कि समकालीन पीढ़ी के मन में मानव मूल्यों के प्रति कहीं कोई संवेदनशीलता, छटपटाहट या द्वन्द्व शेष नहीं लगता। मूल्यों के इस सर्वध्वंस के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को पहचाना जाना चाहिए। यह समाज चिन्तकों, राजनीतिज्ञों और कलाकारों की भी चिंता होनी चाहिए। वस्तुतः इस चिन्ता का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को मनुष्य के रूप में बचाये रखना है। मनुष्य को उसकी मनुष्यता से च्युत करने वाली पारिस्थितियों की सबसे संवेदनशील और विश्वसनीय कोशिश साहित्य ने की है। इसे हम 'महाभारत', 'रामायण', 'अधेर नगरी' से लेकर 'अंधा युग' तक देख सकते हैं। इन

सभी कृतियों में संघर्ष का मुख्य कारण मनुष्य की संकीर्णता स्वार्थ और लालच है। भारती के काव्य नाटक 'अन्धायुग' में धृतराष्ट्र स्वीकार करते हैं कि उनकी संकीर्ण वैयक्तिकता से ही मर्यादा का घोर क्षय हुआ। धृतराष्ट्र की आत्म-स्वीकृति में उनकी अपनी सीमाओं की भी स्वीकृति है। वह कहते हैं कि अपनी अंधता के चलते वह बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को समझ नहीं पाये। धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' के कथ्य को समकालीन जीवनानुभव से जोड़कर विकसित किया है और इस प्रकार धृतराष्ट्र की अन्धता उन खण्डित आत्मकेन्द्रित व्यक्तित्वों के अर्थ में बदल जाती है जो अपने सुविधाभोग लालच या सत्ताकांक्षा के चलते व्यापक मनुष्यता से कट जाते हैं। इस प्रकार के सामाजिक अलगाव में पड़े हुए व्यक्तित्व अपनी अंध अन्तःप्रवृत्तियों के गुलाम हो जाते हैं। पूंजीवादी समाजव्यवस्था का मनुष्य इसी प्रकार के अलगाव का शिकार होने के लिए अभिशप्त है। उपभोक्ता समाज का अकेला और विलासी बनाने वाला जीवन उसकी सामाजिकता को नष्ट करता है। इस तरह से उसकी मनुष्य के रूप में जीने की स्वाभाविकताएँ भी नष्ट होती हैं। वह आधा-अधूरा, खण्डित, अजनबी, कुण्ठित और सत्रस्त होता है। जाहिर है कि उपभोक्तावादी संस्कृति ने भी भारतीय संस्कृति का मनुष्य को स्वाधीन निर्भय और सामाजिक बनाने वाला सार तत्त्व नष्ट कर दिया है। ऐसे में मनुष्य को ऐसा लगता है कि वह एक भीड़ भरे उजाड़ में रह रहा है। तब किसी शायर का यह अनुभव आश्चर्य नहीं लगता कि—

**‘ऐसा तो अक्सर होता है भीड़ भी तनहाई भी’**

यह निस्संगता, यह संवादहीनता और यह जड़ता मनुष्य से उसका समूचा मानवीय सार सोख लेती है। सम्बन्धों को वह स्वार्थ और सुविधा के बटखरे से तौलने लगता है। उसके भीतर से केवल एक चीत्कार फूटती दिखाई देती है कि दुनिया से उसे सिर्फ चाहिए, ज्यादा, ज्यादा और ज्यादा चाहिए। मोहन राकेश के नाटक पूंजीवादी समाज के इसी अमानवीकरण के शिकार विघटित व्यक्तित्वों की जटिलताओं की पहचान करते हैं। 'आधे अधूरे' 'लहरों के राजहंस' या 'आषाढ़ का एक दिन' में मानव जीवन और समाज की स्वाभाविकताओं से कट कर ठहरा हुआ जीवन है। राकेश के नाटकों में ही इस ठहराव को तोड़ने, या उद्घाटित करने वाली स्थितियों और चरित्र भी चित्रित हैं जिनके कारण आधे अधूरे चरित्रों व स्थितियों की विडम्बना और प्रगाढ़ हो उठती है।

राकेश के नाटक उपभोक्ता समय के मनुष्य के विघटन की पहचान करते हुए विसंगत बाह्य परिवेश के अन्तर्विरोधों और तनावों की भी तहें खोलते हैं। इस परिवेश में जीवनादर्श, मान्यतायें मूल्य और मनुष्य के विश्वास जीवन से बाहर हाशिये पर पड़े दिखाई देते हैं। हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन से जुड़े प्रख्यात रंग निर्देशक इब्राहिम

अलकाजी का अनुभव समकालीन मनुष्य का 'टूटना' था। यह 'टूटना' भीतर भी था और बाहर भी। उन्होंने लिखा कि 'समाज व्यवस्था आज तेजी से बदल रही है। न तो कोई टिकाऊ मूल्य रह गये हैं, न कोई धार्मिक आस्था, न कोई राजनीतिक विश्वास न कोई वैयक्तिक या सामाजिक विवेक। सभी कुछ कामचलाऊ है और हरेक समाधान तात्कालिक सुविधा पर टिका है। शाश्वत सत्य निकम्मे उपदेश बन गये हैं। ऐसी कोई चीज नहीं जो लोगों को एक कर सके, न तो कोई लक्ष्य है, न कोई प्रतिबद्धता। समाज बिखर गया है, घर टूट चुका है और उसके सदस्य एक दूसरे से कटकर अपरिचित की तरह भ्रान्ति और हताशा की अपनी आकारहीन दुनियाँ में रहते हैं।'<sup>2</sup>

'आधे-अधूरे' में मोहन राकेश ने महानगरीय मध्यवर्ग के जटिल तथा अस्पष्ट अन्तर्सम्बन्धों को अभिव्यक्ति के लिए चुना था। इस नाटक में खण्डित व्यक्तित्व की संक्रान्त मनोरचना और विघटित परिवेश की घटना-दुर्घटना के द्वारा वे पूंजीवादी समाज व्यवस्था की ऐतिहासिक नियति को बड़ी कलात्मकता के साथ उभार पाये हैं। उनके अन्य दोनों नाटकों में इतिहास और मिथ का उपयोग भी इस जटिल समकालीन अनुभव की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। 'लहरों के राजहंस' और 'आषाढ़ का एक दिन' में भी व्यक्ति और बाह्य परिवेश की द्वन्द्वात्मकता को एक खास क्लासिक कोण में उभारा गया है। स्पष्ट है कि मोहन राकेश के नाटक मूल्य संकट की स्थितियों की आलोचना करते हुए मनुष्य के मानवीय आत्मप्रसार का पक्ष लेते हैं।

गिरीश कर्नाड की चिन्ता भी मनुष्य का आधा-अधूरापन है किन्तु इसे देखने का उनका नजरिया राकेश से भिन्न प्रकार का है। 'हयवदन' में स्त्री पुरुष सम्बन्धों को वे एक गहरे आदिम अर्थ में उद्घाटित करते हैं। स्त्री-पुरुष के भीतर के 'आदिम' को कर्नाड उनकी स्वाभाविकता के रूप में देखते हैं तथा स्वयं को उसके पक्ष में खड़ा करते हैं। कर्नाड इस अर्थ के साथ मनुष्य के उसके प्रकृत स्वभाव में न जा पाने की त्रासदी लिखते हैं।

शंकर शेष के नाटकों को मोहन राकेश के नाटकों जैसी ही लोकप्रियता मिली है। 'एक और द्रोणाचार्य' में वे समकालीन मनुष्य की विडम्बनाओं की पहचान के लिए ही इतिहास और मिथ में प्रवेश करते हैं। मनुष्य को उसके नैतिक और मानवीय से विस्थापित करने वाली परिस्थितियाँ शंकर शेष की भी चिन्ता है। अपने नाटकों में उन्होंने सत्ता और शक्ति द्वारा विरूप किये जा रहे मनुष्य के सुन्दर स्वप्न और संघर्ष की पीड़ा को समझा और लिखा है। उल्लेखनीय है कि शंकर शेष के नाटकों में समाज और संस्कृति के पतन से जुड़े सवाल अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में उभरते हैं।

नन्द किशोर आचार्य के नाटक 'ययाति' में पुनः आधुनिक स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध की जटिलतायें केन्द्र में हैं। वैयक्तिक सुखोपयोग की लालसा से भरा व्यक्तित्व

‘ययाति’ में चरितार्थ हो उठता है। वैयक्तिकता के कारण आये पतन और ठहराव को देखने का नन्दकिशोर आचार्य का अपना दृष्टिकोण है।

मुद्राराक्षस के ‘मरजीवा’ नामक नाटक का प्रतिपाद्य विसंगत समाज की आर्थिक-सामाजिक जटिलता है। इस नाटक में मूल्यध्वंस के कारण विघटित होते सामाजिक सम्बन्ध, राजनीति, व्यवस्था और परिवार की वास्तविकता है। आदर्श और भूमि पति-पत्नी हैं। आदर्श के पिता मानसिक रूप से रूग्ण है और भूमि के पति का मन स्वस्थ नहीं है। इस दम्पति का यह संकट अकेला नहीं है। अपनी मूल्यचेतना के प्रति गंभीर ये समाज की पूरी अराजकता और अनैतिकता से लड़ते हैं, किन्तु जीने के लिए गलत मूल्यों से समझौता नहीं करते। मुद्राराक्षस के इस नाटक में समाज और राजनीति के पतन को हिला देने वाले चित्र मिलते हैं। इस प्रकार नाटककार मनुष्य के जीवन को असह्य बना देने वाली आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक अराजकता को उद्घाटित करता है।

रमेश बख्शी एक अलग रंग मुहावरे के नाटककार हैं। मूल्य भंग उनका भी चरम अनुभव है। ‘तीसरा हाथी’ में इस मूल्यभंग से घुटता और खत्म होता हुआ परिवार है। इस नाटक में एक ऐसा परिवार है जिसमें पिता पुत्री और पुत्र के बीच एक दूसरे को बल और सुरक्षा देने वाला सम्बन्ध दम तोड़ चुका है बल्कि एक आंतक और अवसाद है जिससे पूरा परिवार खत्म होता जा रहा है।

इसी प्रकार मणि मधुकर के ‘रसगंधर्व’ नामक नाटक में जीवन के निरर्थक और विसंगत को प्रतीकात्मक रूप में पहचाना गया है। ‘रस गंधर्व’ का नाट्यार्थ वर्तमान वास्तविकता पर केन्द्रित है। मणिमधुकर ने इस नाटक को व्यंग्य का ऐसा शिल्प दिया है जिसमें संवाद यथार्थ और फैन्टेसी के बीच आवाजाही से देश, सत्ता, सत्ता से जुड़ी शक्तियों के अमानवीय चरित्र को उद्घाटित करते हैं। लोकनाट्य के कल्पनाशील शिल्प का उपयोग इस नाटक की खासियत है और इसके द्वारा नाटक का अनुभव अधिक तीव्र और संवेद्य होता है।

रामेश्वर प्रेम के ‘चारपाई’ नामक नाटक में आर्थिक-सामाजिक दबावों से टूटता हुआ परिवार है। सम्बन्धों में गहरी असुरक्षा और बेगानापन घर कर गये हैं। इस नाटक में नाटककार ने मूल्य विघटन को व्यापक आर्थिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में पहचाना है। इसी प्रकार दया प्रकाश सिन्हा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल आदि के नाटक मूल्यसंकट से आक्रांत जीवन के तमाम हिस्सों की पहचान करते हैं।

वस्तुतः समकालीन नाटककार का सामना मानव मूल्यों के सर्वसंहार के भयानक अनुभव से है। हम सब एक निष्ठुर समय में रह रहे हैं। मूल्य यदि कहीं शेष



भी हैं तो बहुत वैयक्तिक स्तरों पर और वहाँ भी वे भयानक यातना और संघर्ष में हैं। 'अंधायुग', 'आधे अधूरे', 'एक और द्रोणाचार्य' या 'चारपाई' जैसे नाटक मूल्यशून्यता के यातनापूर्ण अनुभव से निकल रहे हैं। मानव मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध मनुष्य या तो आत्महत्या करता दीखता है या मार दिया जाता है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी और बाजार की नयी सांस्कृतिक मांग एक अमानवीय समाज की है जिसमें मनुष्य के व्यक्तिगत स्वार्थ और लालच और सत्ताकांक्षा के लिए तो खुराक है किन्तु मनुष्य और मनुष्य के बीच मानवीय सम्बन्ध के लिए पोषण नहीं है। यह समय तेजी से 'मनुष्य' के होने का अर्थ और उद्देश्य बदल रहा है। समय के इस पूरे उजाड़ को साहित्य अपनी संवेदनशीलता और भविष्य चिन्ता पर झेल रहा है। जब तक साहित्य का यह जीवन के प्रति अनुरागी संघर्ष बचा है तब तक हमें उम्मीद नहीं छोड़ना चाहिए।

**सन्दर्भ :-**

1. मुक्तिबोध रचनावली, 4, पृ040
2. देशपाण्डे, पु. ल. एवं सुरेश अवस्थी, (सम्पा.) आज के रंग नाटक, पृ0. 23-24

\*\*\*\*\*

## मूल्य संक्रमण के दौर में शरद जोशी का व्यंग्य

अमित कुमार सिंह\*

मानवीय मूल्यों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए महात्मा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में लिखा है—“इतिहास यह बताता है कि दुनिया का आधार हथियार के बल पर नहीं है, बल्कि सत्य, दया या आत्मबल पर है। इसलिए लड़ाई हथियार के बल के बजाय दूसरा ही बल उसका आधार है।”<sup>1</sup> गाँधी जी की मृत्यु के महज पचास-साठ सालों में जीवन स्थितियाँ जिस तेजी से बदली हैं, मानवीय मूल्यों में क्षरण उससे भी तीव्रता से हुआ है। आधुनिकता का जो नकली लबादा ओढ़ने की कवायद हमारे समाज ने की है, उसका परिणाम यह है कि हम आज न ठीक से घर के हैं और न ही घाट के। भारतवर्ष के महान् व पूजनीय विद्वानों, स्वतंत्रता सेनानियों को इसका भय था कि समाज ने यदि विकास के सही अर्थों को नहीं समझा, तो मानवीय मूल्यों के नष्ट होने का संकट उत्पन्न होगा। साहित्य, समाज, संस्कृति सभी का अस्तित्व विकासमान तभी है, जब मानव-मूल्यों की श्रेष्ठता बनी रहे। दुर्भाग्यवश, वर्तमान समय में हमारा सामाजिक परिवेश ठीक इसके विपरीत जा रहा है और दुःखद यह है कि आज के नेतृत्वकर्ता इसे सही ठहरा रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—में से केवल अर्थ और काम आधारित समाज की रचना में हम सभी किसी न किसी रूप में अपना योग दे रहे हैं।

प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक डॉ० मैथ्यू अर्नाल्ड ने कहा था कि— “जब सामाजिक आचरण नैतिक नियमों के विरुद्ध सामूहिक रूप से आगे बढ़ने लगे, तो साहित्य की आवश्यकता पड़ती है, जो समाज के एक बड़े हिस्से को सही और तर्कसंगत की ओर ले जाता है।”<sup>2</sup> भारतीय संदर्भ में यह अत्यंत खेदजनक सत्य है कि वर्तमान साहित्य भी स्तुति और निन्दा का उपक्रम कर रहा है और विभिन्न विधाएँ समाज को गलत तथ्यों की ओर ले जाने में व्यस्त हैं। आधुनिकता के इस ढोंग भरे छलावे के बीच साहित्य की एक सशक्त, किन्तु हाशिये पर रही विधा ‘व्यंग्य’ ने आरम्भ से ही सार्थक हस्तक्षेप करते हुए आईना दिखाने का काम किया है। व्यंग्य साहित्य की इस परम्परा के प्रसिद्ध हस्ताक्षर हैं—शरद जोशी। अपने अत्यन्त सहज और बोल चाल के गद्य से जोशी जी ने सामाजिक विसंगतियों पर तीखी निगाह डाली है और शोषण, अन्याय तथा विकृतियों पर जमकर प्रहार किया है। ‘नावक के तीर’, ‘बैठे ठाले’, ‘किसी बहाने’ जैसी उत्कृष्ट व्यंग्य रचनाओं के माध्यम से जोशी जी ने सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यहीनता और जीवन के व्यावहारिक पक्ष से टूटते मूल्य संबंधों को गहराई से रेखांकित किया है। आज के तथाकथित उत्तर आधुनिक समय में जब नैतिक मूल्यों को अप्रासंगिक कहकर किनारे किया जा रहा है; शरद जोशी का व्यंग्य हमें हमारे दायित्वों का स्मरण कराता है। अपने व्यंग्य संग्रह ‘यथासमय’ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—“संगीत में, धर्म में, साहित्य या

इतिहास में छिछलापन छा गया है। सब कुछ जरूरत के तराजू पर तौला जा रहा है। मूल्य थे तो उस पर डटे रहने की जिद थी, सिद्धांत थे तो दृढ़ता थी। परन्तु अब बयान बदलने का संकोच समाप्त हो गया, इतिहास मात्र एक सन्दर्भ है और सफलता सीढ़ियों द्वारा ही नापी जाती है। जन की विराट उपस्थिति अब गाँधी या लेनिन को ताकत नहीं देती, न उभारकर लाती है। आज आप राइफल थमाकर आदमी की आत्मा अपने पास गिरवी रख सकते हैं।<sup>3</sup> स्पष्ट है कि जिस प्रकार हाल के वर्षों में हमारे समाज में संवेदनशीलता का ह्रास हुआ है, इसके पीछे आधुनिकता के मूल्यहीन स्वरूप का प्राणलेवा नशा ही है। व्यक्ति अपने इतिहास से कट गया, मानव संस्कृति की धारा व परम्परा से अलग होकर शुद्ध वर्तमान में जीने का आदी हो गया और समाज के उच्च वर्ग ने एक बड़े समाज की समस्याओं के प्रति चिंतित होना छोड़ दिया। सत्य और अहिंसा के प्रयोग से ध्यान हटाकर असत्य और हिंसा को खुलेआम सही ठहराने की कोशिश शुरू हो गयी। जोशी जी ने एक स्थान पर सामाजिक, राष्ट्रीय स्तर पर हिंसक प्रवृत्तियों के इस बढ़ते असर को रेखांकित किया है—“अभी तक ‘अ’ का अनार होता था। अब ‘अ’ का अणु हो गया। इस तेजी से स्तर आज तक कभी नहीं उठा। वे मंत्रीगण, जो हिंसा आगजनी के संदर्भ में माचिस और घासलेट के शांतिपूर्ण उपयोग पर भाषण देते थे और कोई नहीं मानता था, वे ही आज अणु शक्ति के शांतिपूर्ण उपयोग पर भाषण देते हैं और सब मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि हमारी हर राष्ट्रीय पैमाने की हरकत में अन्तरराष्ट्रीय शांति का नेक इरादा सदैव जुड़ा रहता है।”<sup>4</sup> व्यंग्य का यह भीतर तक तिलमिलाने वाला रूप जोशी जी के यहाँ भरा पड़ा है और अपने तरकश के इन तीरों से विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे मूल्य क्षरण पर उन्होंने चुटीले व्यंग्य लिखे हैं। इसी क्रम में देश की राजनीतिक व्यवस्था के विकृत सच को भी वे सामने लाते हैं। ‘गालियाँ खाने का वर्ष’ शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है—“चुनाव के ठीक दो वर्ष पहले नेताओं और पार्टियों में चुनाव चेतना अंगड़ाई लेने लगती है। सबसे पहले उन्हें बुद्धिजीवियों की याद आती है। वे यह बयान देते नजर आएँगे कि राष्ट्र की प्रगति में बुद्धिजीवियों का योग जरूरी है। उनकी मूल फिक्र यह होती है कि ये कमबख्त चुनाव के ऐन पहले हवा न बिगाड़ दें। यह बात कई बार इतनी बढ़ जाती है कि उसी झोंक में कुछ बुद्धिजीवियों को टिकट भी मिल जाते हैं।”<sup>5</sup> इसी तरह पत्रकारिता जगत के सरोकारों को भी उन्होंने निशाना बनाते हुए लिखा है—“नेतागण चुनावों के समय पत्रकारों के प्रति एकाएक सहृदय, नम्र और मधुर होने लगते हैं। उस समय यदि पत्रकारों की कोई भी समस्या हो, तो वे सुलझाने में देरी नहीं करते। पत्रकारों को भी चाहिए कि उनकी जो भी समस्या हो—सरकारी मकान लेना, पत्नी की सर्विस लगवाना, फ्री पास लेना, तो उसे इस मौसम में सुलझा ले।”<sup>6</sup>

एक साथ राजनीतिज्ञों, पत्रकारों एवं बुद्धिजीवियों—यों कहा जा सकता है कि वैचारिकी के प्रमुख स्तम्भों की पोल जोशी जी ने अपने उपरोक्त उद्धरण में खोली है। साथ ही प्रक्रियागत मूल्य क्षरण को भी बड़ी संजीदगी के साथ व्यवहारिक तौर पर स्पष्ट किया है। इसी तरह का व्यंग्य चित्र उनके प्रसिद्ध लेख 'विदेशी हाथ' में दृष्टिगत होता है, जहाँ हमारे दोमुंहेपन को उन्होंने बेबाक ढंग से सामने रखा है—“विदेशी हाथ से हमें बहुत शिकायत है। हम चाहते हैं कि विदेशी हाथ आए और सीधे हमारी जेबों में डॉलर रख कर चला जाए। विदेशी हाथ आए, जुड़े और हमारी संस्कृति को प्रणाम कर चला जाए। यदि वह काफी दिनों तक नहीं आता, तो हम उसे विदेश बुलाने जाते हैं और जब वह सक्रिय होता है, हमारे मन में छुपा चिरन्तन और तपना जाग जाता है। हमारे चरित्र का दिलचस्प पक्ष है कि हमें केवल विदेशी हाथ से शिकायत है; जबकि इसके पीछे विदेशी दिमाग है, जो हमारे दिमाग में घुस गया है, विदेशी आँख है, जो हमारे राष्ट्रीय चश्मों के पीछे है, विदेशी इच्छाएँ हैं, जो हमारे मन में तैरती है। हम अपने शरीर को वज्र सा क्यों नहीं बनाते।”<sup>7</sup>

हमारी संस्कृति, परम्परा, वेश-भूषा, भाषायी संस्कारों पर जो अप्रत्यक्ष कब्जा विदेशों द्वारा होता जा रहा है, इसकी कचोटने वाली विवेचना शरद जोशी के इस व्यंग्य में है। एक कठोर वास्तविकता यह है कि यह सब जानते-समझते हुए भी हम उसे अपनाते हैं। आँखें बंद कर हम यह मान लेते हैं कि सब कुछ ठीक चल रहा है। व्यंग्य रचना इस सब कुछ ठीक सा लगने वाले के भीतर से उस तथ्य को निकाल लाती है, जो बिल्कुल ठीक नहीं होता। वर्तमान समय में संस्कृति की दुहाई देने वाले, परम्परा की रक्षा के ऊपर झगड़ने वाले बहुत लोग हैं, लेकिन इसमें उनका अपना स्वार्थ है, हित है। संस्कृति के नाम पर, मूल्यों के नाम पर, अंध आस्था के प्रसार द्वारा स्वार्थ की रोटी सेंकना सक्षम लोगों का खास शगल बना हुआ है। जोशी जी ने अपने लेख— ‘भाषण देने की संस्कृति’ में इस स्वार्थपरता पर तीखा प्रहार किया है—“जनाब, संस्कृति एक खूबसूरत तह बना देती है। यह सिलसिला अनंतकाल से कायम है। सच्चाइयाँ ग्लैमर में लिपटी रहती हैं। सरकार मदर टेरेसा नहीं होती, जो केवल बीमार भूखे बच्चों का ही ध्यान रखे। वह मरनेवालों के सहारे नहीं, जीवित और मजा मारते लोगों के सहारे चलती है। सरकार की यही सांस्कृतिक नीति है। भूख मिटनी चाहिए, मगर मॉडलिंग भी जारी रहनी चाहिए। देश के पास बेचने के लिए खजुराहो है, खरीदने को टेकनोलॉजी है। इसमें भूख, गरीबी, बीमारी की बातें अप्रासंगिक हैं।”<sup>8</sup> आधुनिक संदर्भों में शब्दों के जाल किस प्रकार सामान्य व्यक्ति की समझ को गलत दिशा दे रहे हैं, इसका स्पष्ट प्रमाण जोशी जी ने दिया है। एक खास तरह की खुशफहमी को भ्रम में रखना वर्तमान समय की प्रमुख नीतियों में से एक बन गया है। देश के भविष्य का

निर्माण करने वाला हर क्षेत्र, हर संस्थान इसका शिकार है। हमारी शिक्षा व्यवस्था जो कभी मूल्य आधारित हुआ करती थी आज व्यवसाय और लाभ आधारित शिक्षा में तब्दील हो चुकी है और हम बड़े ही गर्व के साथ अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता और विकास के समायोजन का विज्ञापन कर रहे हैं। अपने लेख 'कितना विश्व, कैसा विद्यालय' में हमारी शिक्षा व्यवस्था में लगे घुन को जोशी जी ने बड़ी साफगोई से पेश किया है—“विश्व शब्दांश, यदि विश्वसनीयता के अर्थ में लिया जाए तो अधिकांश विश्वविद्यालय उसे खो चुके और बहुतेरों ने कभी अर्जित ही नहीं की। पहले यह होता था कि भारत के विश्वविद्यालय से एक छात्र डिग्री लेता था और उसके सहारे उसे भारत के कई भागों में नौकरी न मिले मगर विश्व के अन्य देशों में मिल जाती थी। इसलिए कि विश्वविद्यालय से प्राप्त डिग्री की विश्व भर में साख होती थी। फिर देश आजाद हुआ; और विश्वविद्यालय खुले, नकल करने की सुविधायें बढ़ी। विदेश के मूढ़ छात्र डिग्री लेने के लिए भारत की ओर आकृष्ट होने लगे। भारत के पुनः जगत गुरु होने की सम्भावनाएँ लौट आयीं।”<sup>9</sup>

आजादी के बाद देश के विकास और शिक्षा में होने वाली गुणात्मक प्रगति का यह वास्तविक नमूना है, जिसे जोशी जी ने चुटीले अंदाज में प्रस्तुत किया है। उस शिक्षा के साथ ही स्कूली शिक्षा पर भी उन्होंने व्यंग्य किया—“जरा गहरे उतर के सोचो तो—देख कबीरा रोया वाली स्थिति है। प्राचीन भारत में पशुशालाएँ इन वर्तमान पाठशालाओं की अपेक्षा अधिक सुंदर होती थीं। माना कि इथियोपिया पिछड़ा देश है, मगर भारत में भी कई ऐसी जगहें हैं, जो अपने आप में इथियोपिया से कम नहीं हैं। दिल्ली के स्कूल इंग्लैण्ड और अमेरिका की तरह और आदिवासी क्षेत्रों के इथियोपिया की तरह भी नहीं।”<sup>10</sup>

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि भारतीय समाज, संस्कृति, प्रशासन, न्याय व्यवस्था, शिक्षा, परम्परा आदि विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े हर विषय पर शरद जोशी की नजर गई है और उपर से साफ दिखने वाले हरेक उस तथ्य के भीतर की असली सच्चाई को अपने व्यंग्य के द्वारा उन्होंने उभारा है। सांस्कृतिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के पतन के लिए जिम्मेदार वास्तविक कारणों की खोज करते हुए उन्होंने एक तरफ अपनी रचना प्रक्रिया को धार दी है तो दूसरी तरफ संस्कृति, सभ्यता और सामाजिकता से जुड़े आदर्शों पर आसन्न संकट के प्रति भी उन्होंने सावधान किया है। कहना न होगा कि मूल्यों के संक्रमण के इस दौर में शरद जोशी का व्यंग्य हमें पुनः अपने गिरेबां में झांकने व नकली सच्चाईयों से सतर्क होने की नसीहत देता है, ताकि उन मूल्यों की रक्षा करने में हम समर्थ हों, जिनसे हमारा कल निर्मित होता है।

**संदर्भ :-**

1. हिंद स्वराज. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0-69
2. गुप्त, गणपति चंद्र. पाश्चात्य साहित्य समीक्षा, पृ0-137
3. जोशी, शरद. यथासमय (व्यंग्य संग्रह), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
4. वही. पृ0-47
5. वही. पृ0-57
6. वही. पृ0-58
7. विदेशी हाथ, यथासमय, पृ0-69
8. भाषण देने की संस्कृति, यथासमय, पृ0-115
9. जोशी, शरद. यथासमय (व्यंग्य संग्रह), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ0-87
10. वही. पृ0-121

\*\*\*\*\*

## वैदिक जीवन दर्शन में प्रतिबिम्बित मानवीय मूल्य

विजय श्रीवास्तव\*

वर्तमान जीवन की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में साफल्य उन्हें ही प्राप्त होता है, जिनका मानसिक सूर्य तप रहा होता है। यह मानसिक सूर्योदय और ताप नैतिक साधना का विषय है। नैतिक साधना मानवीय मूल्यावलम्बित होती है। सत्य-सदाचरण-मैत्री-करुणा-लोक कल्याण-राष्ट्रहित-वैश्विक एकता-प्रिय भाषण-वृद्धोपसेवा-पितृभक्ति- अतिथि सत्कार-दानशीलता-सर्वदिडनिर्वैरता-सहिष्णुता आदि वे मानवीय मूल्य हैं जिन पर वैदिक जीवन दर्शन अवलम्बित था। आज उनकी आत्यन्तिक उपेक्षा का ही परिणाम है कि हम नैतिक दृष्ट्या हीनभावना से ग्रस्त होकर विपरीत परिस्थितियों में अधीर हो उठते हैं। कृष्णार्जुन के द्विस्थ युद्ध के दिन रथों के आमने सामने होने पर जब अर्जुन-कर्ण तथा कृष्ण-शल्य ने एक दूसरे को तरेरा तब न तो कर्ण अर्जुन का तेज सह पाया और न ही शल्य कृष्ण का। आँखों ही आँखों में सारा मानसिक युद्ध लड़ लिया गया। अर्जुन और कृष्ण का यह नैतिक बल उनकी मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का परिणाम था।

आधुनिक समाज में हम इन्हीं प्रतिबद्धताओं से शून्य होते जा रहे हैं। अमर्यादित, भ्रष्ट एवं मूल्यहीन आचरण आधुनिक जीवन के पर्याय बन गये हैं। हमारा मनः सूर्य मेघाच्छन्न हो गया है जिसे छांटने के लिए हमें पुनश्च अपने ज्ञान विज्ञान के मूल स्रोत वेदों में वर्णित ऋत की व्यवस्था में आस्था को अंकुरित करना होगा। ऋत वह नैतिक संस्थान है जहाँ मानवीय मूल्यों का संरक्षण होता है। वस्तुतः मानव जगत की व्यवस्था के पीछे छिपे सिद्धान्त को ही वेद ने ऋत कहा है। श्री अरविन्द ने ऋत को सदाचरण का मानदण्ड माना है। अरविन्द के शब्दों में “सब वस्तुओं का सारभूत पदार्थ ऋत है। भौतिक से आध्यात्मिक रूप में परिवर्तन का कारण ऋत ही है। ऋत सूर्य चन्द्र आदि का नियम दिखाई देता है किन्तु वस्तुतः यह आचरण का नियम है।”<sup>1</sup>

द्रष्टाऋषि वामदेव ने ऋत की महिमा इस प्रकार बतायी है—“ ‘ऋत’ अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है, ऋत की भावना पापों एवं दुःखों को नष्ट करती है, मानव को उद्बोधन देने वाली ‘ऋत’ की पवित्र प्रशस्ति गहरे कानों में भी पहुँच चुकी है। ‘ऋत’ की जड़ें सुदृढ़ हैं, इसके सुन्दर रूप में अनेक कमनीय रूप अन्तर्भूत हैं, ‘ऋत’ के आधार पर प्रचुर अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है, ‘ऋत’ के द्वारा गौएँ ‘ऋत’ में प्रविष्ट हो गयी हैं। ‘ऋत’ को सुदृढ़ करता हुआ व्यक्ति ‘ऋत’ को प्राप्त करता है। ‘ऋत’ की शक्ति अत्यन्त तीव्र है और इच्छित वस्तुओं को देने वाली है। विस्तृत एवं गहन पृथ्वी तथा आकाश ‘ऋत’ से सम्बद्ध हैं, ‘ऋत’ के लिए ही श्रेष्ठ गौएँ दूध देती हैं।”<sup>2</sup>

‘ऋत’ मे संरक्षित प्रमुख मानवीय मूल्य **सत्य** है। सत्य की प्राप्ति ‘ऋत’ द्वारा ही सम्भव है। एक मंत्र में मरुतों के लिए कहा गया है कि वे ‘ऋत’ के द्वारा सत्य को प्राप्त हुये।<sup>3</sup> ऋग्वैदिक कवियों ने देवताओं की स्तुति करते समय उन्हें सत्य आचरण से युक्त बताया है। मित्रावरुण को सम्बोधित एक सूक्त में उन्हें सत्य धर्मा कहा गया है — **“सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।”**<sup>4</sup> वरुण की स्तुति में कहा गया है कि राजा वरुण मनुष्यों के सत्य और असत्यों को देखते हुए घूमते हैं—**“यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन्जनानाम्।”**<sup>5</sup> एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि सूर्य ने सत्य का विस्तार किया—**“सत्यं तातान सूर्यः।”**<sup>6</sup> एक स्थान पर द्यावा पृथिवी की स्तुति में कहा गया है कि तुम सत्य से युक्त हो जाओ—**“युवोर्द्धतं रोदसी सत्यमस्तु।”**<sup>7</sup> इसी प्रकार यम यमी सम्वाद में यम यमी से कहता है कि “हम सत्य वक्ता हैं, असत्य कभी नहीं बोलते।”<sup>8</sup> वैदिक कवियों ने सत्य को इतना महत्त्व दिया कि उसे विश्व का नियंत्रण एवं संचालन करने वाला मान लिया। एक मंत्र में कवि कहता है सत्य के द्वारा ही पृथिवी स्तम्भित है—**“सत्येनोत्तमिता भूमिः।”**<sup>9</sup> अथर्ववेद में कहा गया है कि मनुष्य जैसा देखे वैसा ही बोले—**“यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।”**<sup>10</sup> महाभारत में शान्ति पर्व में भीष्म ने सत्य का लक्षण करते हुये कहा है—**सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।**<sup>11</sup> महाभारत में तो यहाँ तक कहा है कि यदि तुला में एक ओर सत्य और दूसरी ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञ रख दिये जायें तो भी सत्य का ही पलड़ा भारी रहेगा — **अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।**<sup>12</sup> योग दर्शन में कहा गया है कि सत्य रूपी मानवीय मूल्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर मनुष्य की समस्त क्रियायें सफल हो जाती हैं—**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।**<sup>13</sup>

आधुनिक समाज की बिडम्बना है कि सत्य की इस महती प्रतिष्ठा के बाद भी हम मन, वाणी एवं कर्म से असत्य आचरण में डूबे हुये हैं। हमारी जीवन पद्धति से लेकर सामान्य बोल-चाल तक में असत्य ने बखूबी पैठ बना ली है। आज वह सब कुछ सत्य मान लिया जाता है जिसे तात्कालिक रूप से सत्य न सिद्ध किया जा रहा हो या जिसकी पकड़ तात्कालिक रूप से संभव न हो। परिणामतः व्यवहार में विश्वास का अभाव होता जाता है। हम सोचते कुछ हैं, बोलते कुछ हैं, और सुनने वाला समझता कुछ और है। विश्वास का यह अभाव हमें कहीं न कहीं भीतर से कमजोर और खोखला बनाता है। इससे मुक्ति का एक ही मार्ग है, वह है जीवन में व्यावहारिक सत्य का अनुशीलन। यही व्यावहारिक सत्य हमारे पारमार्थिक सत्योपलब्धि का प्रथम सोपान बनता है।<sup>14</sup>



वेदों में अहिंसा की उदात्त भावना के दर्शन होते हैं। वैदिक कवियों ने पितरों के लिए प्रस्तुत एक सूक्त में ऋतज्ञा पितरों को अहिंसक कहा है—“असुं न ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु”<sup>15</sup> एक मंत्र में पूर्वजों को स्तोता तथा हिंसा एवं पाप आदि से रहित बताया गया है—“यथा चित् पूर्वे जरितार आसुरनेद्या अनवद्या अरिष्टाः।”<sup>16</sup>

ऋग्वेद में देवताओं से जिस धन की कामना की गयी है उसकी प्राप्ति का माध्यम अहिंसक हो ऐसी याचना की गई है। इन्द्र से ऋषि याचना करता है कि हमें ऐसी विपुल समृद्धि प्राप्त हो जो कि कल्याणकारिणी तथा अहिंसित हो।<sup>17</sup> वेद में हिंसा रहित बुद्धि की याचना करते हुए ऋषि कहता है कि मुझे सरला अहिंसक एवं धनाभिलाषिणी बुद्धि प्राप्त कराओ—“प्राचीमु देवाश्विना धियं मेऽमृधां सातये कृतं वसूयुम्।”<sup>18</sup> ऋग्वेद में मनुष्य एवं पशु आदि सभी की हिंसा का निषेध प्राप्त होता है। द्रष्टा ऋषि रुद्र से प्रार्थना करता है कि आप हममें से न तो वृद्धों का वध करें और न ही युवकों, बच्चों एवं गर्भस्थ शिशुओं का। आप हमारे माता-पिता और हमारे प्रिय शरीरों की भी हिंसा न करें। छोटी आयु वाले पुत्रों, गौ, अश्वों तथा वीरों का भी वध न करें।<sup>19</sup> इन प्रार्थनाओं से ऋषियों की न केवल मानव जाति के प्रति अपितु समस्त जीवों के प्रति अहिंसक मूल्यनिष्ठता का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। किन्तु अवान्तर काल में वैदिक कर्मकाण्डों के नाम पर हिंसा का प्रचलन संभवतः समाज में व्याप्त हिंसा प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की दृष्टि से हुआ, जिसे आगे चलकर परम्परा माना जाने लगा। जो भी हो किन्तु मौलिक रूप में ऋग्वेद में हिंसा के दर्शन नहीं होते। परवर्ती धर्म ग्रन्थों, मनुस्मृति, गीता, महाभारत आदि में इसी अहिंसक भाव का ही परिमार्जित रूप प्राप्त होता है।

वेदों में मैत्री की उदात्त भावनाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वैदिक ऋषि न केवल देवताओं और मनुष्यों की मित्रता को उपयोगी समझते थे अपितु सृष्टि के प्रत्येक कण के साथ सह-अस्तित्व एवं मधुर भाव की कामना करते थे।<sup>20</sup> वैदिक ऋषि सर्वदिक्-निर्भरता के पोषक थे। अथर्ववेद में अखण्ड एवं चतुर्दिक मैत्री की कामना वाला यह मंत्र प्राप्त होता है—“अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात। इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि।”<sup>21</sup> इस मंत्र में समस्त राष्ट्र तथा अन्य संगठनों के साथ भी बैर विरोध त्याग का मूल पाया जाता है। एक अन्य मंत्र में विशाल पृथ्वी को ही बंधु कहा गया है—“बन्धुर्मे माता पृथ्वी महीयम्”<sup>22</sup> यजुर्वेद में समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने की भावना व्यक्त की गयी है—“मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे”<sup>23</sup>। friend in need is a friend in deed की बहु प्रचलित पाश्चात्य उक्ति; ‘न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः’<sup>24</sup>— इस वैदिक मंत्र का अनुवर्तित एकांश मात्र है।

वैदिक समाज में परस्पर एक दूसरे की यथा संभव सहायता करना, दान देना परम मानवीय कर्तव्य समझा जाता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि जिसका मन उदार नहीं है उसका भोजन करना वृथा है। जो न तो देवगण को देता है और न मित्रों को

देता है केवल स्वयं ही भोजन करता है वह केवल पाप ही खाता है।<sup>25</sup> यजुर्वेद स्पष्ट निर्देश करता है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि में ईश्वर को उपस्थित मानकर ही भोग करना चाहिए। वेदों में अन्न दान श्रद्धा का सूचक है—“स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूशम्।”<sup>26</sup> दाता के चित्त की शुद्धि दान कितना दिया इससे नहीं होती अपितु दान कितनी श्रद्धा से दिया, इसी से उसके चित्त की शुद्धि होती है। अथर्ववेद का ऋषि यह कामना करता है कि वह दान कर्म से कभी भी पृथक् न होंगे। मैक्डालन ने इन दान स्तुतियों के आधार पर यह स्वीकार किया है कि वैदिक युग में दान बहुत अधिक होता था और वैदिक युग के राजाओं के पास अतुल्य धन सम्पत्ति होती थी।<sup>27</sup>

आज परिवार के बड़े-बूढ़े समस्या के रूप में देखे जाने लगे हैं; जबकि वैदिक जीवन में वृद्धों की सेवा परम कर्तव्य माना जाता था। परिवार में बूढ़ों का वास होने का आशीर्वाद दिया जाता था—**ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै बल्लु वदन्त एत सधीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।**<sup>28</sup> जीवन में बड़े बूढ़े माता-पिता आदि के वास से भाई और बहनों में परस्पर द्वेष, कलह की संभावना कम हो जाती है। उनके अधिक अनुभवी होने से परिवार कई प्रकार के दुखों और अपत्तियों से बच जाता है। संराधयन्तः कह कर वैदिक ऋषि ने परस्पर मिल जुलकर कार्य सिद्ध करने का निर्देश दिया है तथा अलगाववादी दृष्टि का पूर्णतः निषेध किया है। साथ ही संयुक्त परिवार की सबसे बड़ी आवश्यकता वाणी संयम की ओर भी ऋषि ने वल्लु कह कर निर्देश कर दिया है। अथर्ववेद में अपने अंगों, अपने हृदय, अपनी आयु का दान करने वाले माता-पिता की स्वस्ति की कामना **“स्वस्ति मात्रे उत पित्रे नो अस्तु”**<sup>29</sup> कह कर की गयी है। आश्रम व्यवस्था का रहस्य इसी में है कि जब माता-पिता, गुरु आचार्य वृद्ध हो जायें तो उनके स्वस्ति का पुत्र और शिष्य वर्ग पूरा ध्यान रखे।

आधुनिक जीवन शैली में मनुष्य का व्यक्तित्व विखण्डित होता जा रहा है। इसका प्रमुख कारण है कि वह येन केन प्रकारेण अपने साध्य को सिद्ध करने के लिए मन, वाणी और कर्म के सामंजस्य की आवश्यकता को भूलता जा रहा है। उसकी ज्ञान, क्रिया और इच्छा में तादात्म्य नहीं हो पा रहा है। इसके विपरीत वैदिक जीवन दर्शन में व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठकर सामाजिक जीवन में भी वाणी और कर्म की एकता पर पूर्ण बल दिया गया है। ऋग्वेद में स्पष्ट निर्देश है कि जैसे देवता एक मत होकर हवि आदि ग्रहण करते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी एक होकर गति करें, एक साथ बोलें तथा सबके मन समान हों।<sup>30</sup> ऐसा होने पर न केवल मानव का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है वरन् समाज भी एकमत होकर प्रगति के शिखर पर पहुंचता है। जहाँ आज के परिषदों एवं संसदों में मत वैभिन्न वीभत्स रूप लेता जा रहा है, वहीं वैदिक मंत्रणाओं, समितियों एवं चिन्तनों में मतैक्य का अद्भुत आदर्श सुप्रतिष्ठित रूप में प्राप्त होता है—ऋग्वेद में कहा गया है—**“संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवाभागं यथापूर्वं संजानाना उपासते।”**<sup>31</sup> वैदिक समाज मन, वाणी और सामंजस्य के महत्त्व से भलिभाँति परिचित था। इसीलिए उनकी मंगलकामना थी कि **समानी व आकूतिः**

**समाना हृदयानि वः । समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।**<sup>32</sup> आज विश्व में इसी सहयोग और सद्भाव के अभाव में अशांति का वातावरण संव्याप्त है।

अपनी मातृ-भूमि के प्रति भक्ति की भावना अथवा राष्ट्रीयता या देश प्रेम की भावना का मूल बीज हमें वैदिक मंत्रों से ही प्राप्त होता है। अथर्ववेद का भूमि सूक्त 'माता-भूमिः' पुत्रोऽहं पृथिव्याः' कहकर इसी भावना की पुष्टि करता है। पृथ्वी सूक्त के प्रथम मंत्र में ही कहा गया है कि पृथ्वी पुत्रों (मानवों) के छः गुण इस धरती के धारक (मूल्य) तत्त्व हैं। यथा महान सत्य, उग्रऋत, दीक्षा, तप, ज्ञान, और यज्ञ—सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।<sup>33</sup>

वैदिक जीवन दर्शन में त्याग को विशेष महत्व दिया गया है। संसार का भोग निर्लिप्त होकर त्याग भाव से करना चाहिए। इसके अभाव में मनुष्य तुच्छ वासनाओं एवं तृष्णाओं के भँवर में फँसता जाता है। जबकि इसके सिद्ध हो जाने पर मनुष्य मोह ममता की मृग मरीचिका से उभर कर मोक्ष के परम पद पर पहुँच सकता है। वेदान्त के अधिकारी के लिए इसे विराग के रूप में एक आवश्यक अनुबंध माना गया है।<sup>34</sup> त्याग परम पद प्राप्त करने के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन को सुगम बनाने का भी साधन है। इस मानवीय मूल्य को अंगीकार करने वाला मनुष्य समस्त जागतिक अभावों में भी संतुष्ट एवं प्रसन्न रह सकता है। यजुर्वेद का स्पष्ट निर्देश है कि हम समस्त संसार को ईश्वर की सम्पत्ति समझकर न्यास की भांति उपयोग करें एवं किसी के धन का लोभ न करें<sup>35</sup>— ऋग्वेद में कहा गया है कि जो केवल अपना ही उदर पोषण करता है वह केवल पाप का भोग करता है—केवलाघो भवति केवला दी<sup>36</sup> इसे ही भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है कि भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्<sup>37</sup> श्रीमद्भागवत में भी महर्षि व्यास ने त्याग की भावना को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि आवश्यकता से अधिक आत्मसात करने वाला चोर होता है—“यावत् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् । अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।”<sup>38</sup>

वस्तुतः वैदिक मानव अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र नहीं था बल्कि वह प्रकृति की अनंत शक्ति के सुव्यवस्थित एवं सुनिश्चित मानकों का पालन करते हुए अपने जीवन में शक्ति और कल्याण का उन्मेष करता था। यदि वह इनके अनुसार कार्य नहीं करता तो सामाजिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में उसे सुख सुविधा, वैभव, शांति और अभ्युदय की उपलब्धि नहीं हो सकती थी। आधुनिक समय में ये मानक मानवीय मूल्यों के रूप में उतने ही प्रासंगिक हैं जितने वैदिक काल में रहे होंगे। इनका अनुशीलन निश्चित रूप से हमें मूल्यहीनता की दशा में सार्थक दिशा दे सकता है।

**संदर्भ :-**

1. अरविन्द. सीक्रेट आफ वेदाज (वेदरहस्य), पृ0-102 तथा 107
2. ऋग्वेद, 4/23/8, 9,10
3. वही, 7/56/12

4. वही. 5/63/1
5. वही. 7/49/3
6. वही. 1/105/12
7. वही. 3/54/3
8. वही. 10/10/4
9. वही. 10/85/1
10. अथर्ववेद. 12/1/30
11. महाभारत शांति पर्व. 162/10
12. वही. 162/26
13. योगदर्शन. 2/36
14. वेदांत परिभाषा. पृ0-194
15. ऋग्वेद. 10/15/1
16. वही. 6/19/4
17. वही. 6/22/10
18. वही. 7/67/5
19. वही. 1/114/7
20. वही. 7/15/13
21. अथर्ववेद. 6/40/3
22. ऋग्वेद. 1/164/33
23. यजुर्वेद. 36/18
24. ऋग्वेद. 10/117/4
25. वही. 10/117/6
26. अथर्ववेद. 6/123/4
27. मैक्डानल. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ0-127
28. अथर्ववेद. 3/30/5
29. वही. 1/31/41
30. ऋग्वेद. 10/191/2
31. वही. 10/191/3
32. वही. 10/191/4
33. अथर्ववेद. 12/1/1
34. अनुबंध चतुष्टय. वेदांतसार
35. इशोपनिषद्. प्रथम मंत्र
36. ऋग्वेद. 10/117/6
37. श्रीमद्भगवद्गीता. 3/13
38. श्रीमद्भागवत्. 7/14/8

\*\*\*\*

## भारतीय संस्कृति एवं साहित्य

ऋतु वाष्प्य\*

संस्कृति एक सतत् प्रक्रिया है जो व्यक्ति का परिष्कार कर उसे उन्नत बनाकर विशुद्ध मानवत्व की कोटि तक पहुँचाती है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र का संशोधन और संस्कार करना ही संस्कृति है। यह विश्व के प्रति अनन्य मैत्री की भावना है जो समष्टि की भावना पैदा करती है। जो राष्ट्र का लोकहितकारी तत्त्व है। प्रबुद्ध विचारकों ने संस्कृति के चार तत्त्व माने हैं— 1) तत्त्वज्ञान, 2) नीति, 3) विज्ञान, 4) कला। एक विद्वान ने कहा कि बाहर की ओर देखना विज्ञान है, अन्दर की ओर देखना दर्शन है और ऊपर की ओर देखना धर्म है किन्तु संस्कृति में धर्म, दर्शन और विज्ञान भी है और कला भी। संस्कृति जीवन का सार है। संस्कृति कोई क्रिया नहीं है अपितु एक प्रकार से समस्त परम्परागत अर्जित व्यवहारों की विशिष्ट समष्टि है जो समाज के सर्वतोन्मुखी विकास एवं उसकी राष्ट्रीय चेतना के मूल में निवास करती है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में संस्कृति को स्वरूपित करने का प्रयास लक्षित होता है। वहाँ संस्कृति मानव के वैयक्तिक और समष्टिगत उत्कर्ष की प्रतीति कराती है।

**'आत्म संस्कृतिर्वाव शिल्पानि— एतैर्यजमान आत्मनं संस्कुरुते'**<sup>1</sup>

'छन्दोग्योपनिषद्' ने मनुष्य को मानवतावादी चेतना से अनुप्राणित करने वाली दृष्टि को संस्कृति की अभिख्या प्रदान की है।

**कास्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीवनव्यापारिषु सामाजिक सम्बन्धेषु वा मानवीयत्व दृष्ट्याप्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः<sup>2</sup>**

संस्कृति का सम्बन्ध मूलतः मनुष्य की चेतना के संस्कारों से है।

संस्कृति का अध्ययन मानव-चेतना के आज तक के विकास का अध्ययन ही है और उसी में से उसके भावी विकास की संभावनाएँ भी बाहर आती हैं। कोई भी समाज अपनी सार्थकता जिन आदर्शों या मूल्यों की सिद्धि में स्वीकार करता है, वही आदर्श या मूल्य, संस्कृति की प्रकृति और स्वरूप का भी निर्धारण करता है, इसलिए संस्कृति को मूल्य-दृष्टि या सांस्कृतिक प्रक्रिया को मूल्यों के अर्जन की प्रक्रिया कहा जाता है। भारतीय संस्कृति में सहनशीलता और उदारता की भावना बड़ी प्रबल है। यही कारण है कि इसने दूसरी संस्कृतियों को भी आत्मसात् किया साथ ही अपनी विशिष्ट परम्परा पर आधारित विश्वास, आस्था को भी यथावत् रखा साथ-ही-साथ अपनी सांस्कृतिक पहचान को भी मूर्त रखने का प्रयास करती रही। सभी प्रकार के विचार मत मतान्तर वाली संस्कृतियाँ इस भारतीय संस्कृति के परचम तले अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुईं।

आज की प्रासंगिकता के संदर्भ में भारतीय संस्कृति पर नजर डाली जाय तो हम पाते हैं कि यह निरपेक्ष सिद्धान्तों की नींव पर खड़ी एक भव्य अट्टालिका है जिसमें सभी को अपनी मान्यताओं को अनुगुंजित करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। भारतीय संस्कृति

किसी विशिष्ट जाति, वर्ग या समूह के उन्नति की इच्छा नहीं रखती अपितु इसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की इच्छा समाहित है। भारतीय संस्कृति की पहचान हम गोस्वामी तुलसीदास की इन पंक्तियों द्वारा दे सकते हैं—

**“कीरति भनिति भूति भलि सोई।**

**सुर सरि सम सब कह हित होई।।”**

डॉ० रामधारी सिंह दिनकर ने भी इसे जीवन का एक तरीका माना है जो सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में— “सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य अवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्दर के विकास का।”<sup>3</sup>

डॉ० गुलाब राय जातीय संस्कार को ही संस्कृति के दर्पण में देखते हैं—“जातीय संस्कार ही संस्कृति है धर्म और संस्कृति में अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म में श्रुति, स्मृतियों और पुराण ग्रन्थों का आधार रहता है। किन्तु संस्कृति में परम्परा का आधार रहता है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण के अन्तर्गत आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में 'कृषि के द्वारा बुद्धि, आचार, व्यवहार का विकास एवं उनकी शुद्धता को संस्कृति माना गया है।'<sup>4</sup> बेकन के अनुसार “संस्कृति को मानवता का वह प्रयत्न कहा जा सकता है जिसमें वह अपने आन्तरिक स्वतन्त्र अस्तित्व को प्रभावपूर्ण ढंग से स्थापित करती है।”<sup>5</sup> ई०बी० टाइलर का मानना है कि ‘संस्कृति ज्ञान, विश्वास, कलाकृति, नैतिक नियम, आचार, व्यवहार तथा मनुष्य की अन्य उपलब्धियों को व्यक्त करने वाला शब्द है।’<sup>6</sup>

ब्रोनिस्लोव मलिनोस्कि का मानना है कि ‘मानव को राष्ट्रीय परम्परा से कलाएँ, जीवन के उपकरण, सांकेतिक विधाएँ, रहन—सहन भावनाएँ और मान्यताएँ प्राप्त होती हैं, वे सभी संस्कृति के अन्तर्गत आ जाती है।’<sup>7</sup>

भारतीय और पाश्चात्य चिन्तकों की संस्कृति विषयक परिभाषाओं की मीमांसा करने पर यह तथ्य सामने आता है कि, विचारकों ने संस्कृति के परिभाषा क्रम में कहीं भौतिक, कहीं आदर्शमूलक मत का प्रश्रय लिया है और कहीं समन्वयात्मक दृष्टि स्वीकार की है। संस्कृति का वास्तविक रूप अत्यन्त विशाल और व्यापक है। जो समस्त स्वच्छ और स्वस्थ मानवीय भावनाएँ, धारणाएँ एवं चेतनाएँ मिलकर ही संस्कृति का निर्माण करती हैं। इस शब्द की परिधि में सभ्यता, सामाजिकता, साहित्य, कला, ज्ञान, विज्ञान, राजनीति, अर्थनीति, व्यक्तिगत चेतना आदि सभी आ जाते हैं जिसका संबल लेकर मानव लोक कल्याण में संलग्न होता है।

‘साहित्य’ का अर्थ है शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव, अर्थात् ‘साथ होना’। साहित्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है। संस्कृति के अन्तर्गत चेतना और व्यवहार दोनों का सामंजस्य रहता है। दोनों को स्पर्श करता हुआ पुष्ट जीवन ही संस्कारमय कहलाता है। समाज में संकीर्णता को हटाकर सर्वोदय की भावना को प्रोत्साहित करने वाले साहित्य को ही हम साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं। साहित्य किसी

भी समाज का वास्तविक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। किसी भी राष्ट्र का साहित्य वहाँ के जीवन-दर्शन, सभ्यता और संस्कृति के विकास का प्रमाण है जो समाज में नयी प्रेरणा, आशा और चेतना का प्रादुर्भाव करता है। साहित्य किसी भी देश अथवा जाति की भावात्मक एकता और अखण्डता की रक्षा का कवच होता है। डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के शब्दों में—“साहित्य के माध्यम द्वारा भाषा की भाषा के साथ, शब्द की उसके अर्थ के साथ सामंजस्यपूर्ण स्थिति ही स्थापित नहीं होती, वरन् मानव-हृदय का मानव हृदय के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ, मनुष्य के हृदय का बाह्य घटनाओं और दृश्यों के साथ मिलन स्थापित होता है।”<sup>8</sup>

डॉ० रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि “सभ्य मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने का एकमात्र साधन साहित्य है। यह जन मानस की अर्न्तबाह्य प्रतिछवियों का प्रकाशन करने वाला ज्ञान राशि का संचित कोष है साथ ही यह किसी देश या काल की संस्कृति के ज्ञान का सर्वाधिक विश्वस्त प्रामाणिक आधार होता है।”<sup>9</sup> इसी प्रकार संस्कृति और साहित्य के संबंधों को ऐतिहासिक रूप में स्वीकार करते हुए डॉ० सरनाम सिंह शर्मा साहित्य को ‘अतीत का प्रतिबिम्ब’ तथा ‘अनागत का प्रदीप’ मानते हैं।<sup>10</sup>

संस्कृति और साहित्य के सम्बन्ध में मूल रूप से कहा जा सकता है कि साहित्य संस्कृति की न केवल संरचना तथा सर्जना करता है बल्कि वह संस्कृति का सुयोग्य संरक्षक भी होता है। साहित्य वस्तुतः एक सकारात्मक, गतिशील, युगान्तकारी क्रांति को उत्तेजित करने वाला लेखन व्यापार है। संस्कृति व्यक्ति को सुसंस्कृत करती है और साहित्य में मानव जीवन को उद्देलित और झंकृत करने की शक्ति होती है। साहित्य अपनी सम्पूर्णता में समाज एवं संस्कृति का परिचायक होता है।

#### सन्दर्भ :-

1. ऐतरेय ब्राह्मण. 6/5/1
2. छान्दोग्योपनिषद्. 8/4/1
3. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. विचार और वितर्क, पृ०-181
4. The training development and reginement of mind, tastes and manners (Oxford English Dictionary, Vol. II, page. 1248)
5. It is best understood intensively as humanity's effort to assert its inner independent being. (Bacon-Encyclopedia of Religion and ethics, Vol. IV, page 358.
6. Tylor, E.V. Primitive Culture : Vol. I, p. 1
7. Encyclopedia of Social Cciences, p. 621
8. वार्ष्णेय, लक्ष्मी सागर. साहित्य शीर्षक निबन्ध
9. दिनकर, रामधारी सिंह. संस्कृति के चार अध्याय, पृ०-402
10. प्रसाद, राजेन्द्र. साहित्य, शिक्षा और संस्कृति, पृ०-10

\*\*\*\*

## मूल्य—सापेक्ष प्रशासन एवं कौटिल्य का अर्थशास्त्र की उपादेयता

ज्योति मिश्रा\*

प्रशासन व मूल्य की सापेक्षता किसी भी राष्ट्र के विकास की आवश्यक कड़ी है। प्रत्येक प्रशासन के निर्धारित मूल्य होते हैं, जिनके माध्यम से प्रशासन के लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। जब प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा इन मूल्यों की अवहेलना की जाती है तब भ्रष्टाचार, अनियमितता, कार्यों में देरी, नीतियों का सफल न होना, योजनाओं का अधूरापन, असंतुष्ट कर्मचारी, प्रतिभाओं का हनन आदि बहुमुखी दुर्व्यवस्थायें प्रशासन में व्याप्त हो जाती हैं। वस्तुतः वैश्विक समाज में आधुनिकता की अंधी दौड़, आवश्यकता से अधिक धन की लालसा, चकाचौंध की दुनिया की मृगतृष्णा ने मानव में उचित-अनुचित की समझ को पीछे छोड़ दिया है। 1893 में संयुक्त राज्य अमेरिका की धर्म संसद को सम्बोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था— West needed the spirituality of India, India needed her science and he wanted the synthesis of two.”<sup>1</sup> वे पाश्चात्य देशों के प्रशासनिक कर्मचारियों की योग्यता व दक्षता से प्रभावित थे, परन्तु उन्होंने महसूस किया कि उनके जीवन में भौतिक सुख-सुविधा तो अवश्य थी किन्तु एक सन्तुष्ट व खुशहाल समाज की स्थापना में वे असफल थे।<sup>2</sup>

कमोवेश वर्तमान समय में यही दशा भारतीय समाज में की भी होती जा रही है। वैश्विक युग में हमने तकनीकी में तो अवश्य प्रगति की है परन्तु हम अपने मूल को ही खोते जा रहे हैं जिस पर विवेकानन्द जी ने आज से लगभग 117 वर्ष पूर्व गर्व किया था। आज आवश्यकता है उस गर्व को फिर से अनुभव करने की, अपनी प्राचीन धरोहरों को पुनर्जीवित करने की। विषय जब प्रशासनिक मूल्यों का हो तो हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कौटिल्य अर्थशास्त्र की महत्ता को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत प्रपत्र का ध्येय कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रतिबिम्बित मूल्य आधारित प्रशासनिक विचारों के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं द्वारा वर्तमान प्रशासनिक संरचना एवं कार्यप्रणाली की कमियों को दूर करने का वैकल्पिक निदान प्रस्तुत करना है। अर्थशास्त्र में वर्णित प्रशासनिक मूल्यों के विवेचन से पूर्व मूल्य आधारित प्रशासनिक तत्त्वों का विवेचन आवश्यक है।

### मूल्य आधारित प्रशासन के आवश्यक तत्त्व

प्रशासनिक कर्मचारियों में निम्न गुण होने पर कोई भी प्रशासन, मूल्य आधारित प्रशासन की कसौटी पर कुशल कहा जा सकता है—

- कार्य में दक्षता

---

\*शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



- व्यवसाय के प्रति कर्तव्यनिष्ठा
- सामाजिक हित की भावना
- आत्म नियन्त्रण
- सदाचारी व्यक्तित्व
- कार्य के प्रति ईमानदारी
- उत्तरदायित्व की भावना
- देशभक्ति
- समर्पण
- आध्यात्मिक प्रवृत्ति
- नेतृत्व की क्षमता
- सत्यनिष्ठा, आदि विशेषताओं से युक्त प्रशासन मूल्य—निष्ठ प्रशासन की श्रेणी में आता है।

#### अर्थशास्त्र में प्रतिबिम्बित मूल्य सापेक्ष प्रशासन के तत्त्व

अल्तेकर के अनुसार—“कौटिल्य—अर्थशास्त्र चिन्तात्मक राजनीति की रचना होने के स्थान पर प्रशासक के मार्गदर्शन हेतु लिखी गयी एक प्रशासनिक संहिता है।”<sup>3</sup> कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु राजा है। इसीलिए कौटिल्य ने नेतृत्व की आचार—संहिता पर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने राजा के लिए विशेष प्रशिक्षण व शिक्षण की व्यवस्था की है। राजा के गुणों की चर्चा करते हुए उन्होंने नेतृत्व के ‘व्यक्तिगत’ एवं ‘संस्थागत’ दोनों प्रकार के गुणों को महत्त्व दिया है। उनके अनुसार चूँकि नेतृत्व पर ही सभी कर्मचारियों की नियुक्ति का दायित्व होता है अतः उसे शास्त्र का ज्ञानी, कृतज्ञ, धैर्यवान, दूरदर्शी, सत्यवादी, गुणों की पहचान करने वाला, आत्मनियन्त्रण की क्षमता, दूसरों की बातों को ग्रहण करने की क्षमता आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।<sup>4</sup>

इसी प्रकार प्रशासनिक कर्मचारियों की नियुक्ति में भी योग्यता परीक्षण के साथ—साथ अधिकारियों की आचार संहिता का भी उल्लेख उन्होंने किया है। जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म दृष्टि वाले, बुद्धिमान, स्मरणशक्तिवान, कार्य कुशल, वाक्चतुर, तर्क में निपुण, बलवान, शीलवान, गर्वरहित, आरोगी, द्वेषभाव से रहित राज्य के प्रति भक्ति, कर्तव्यनिष्ठा, सदाचार, राजकोष का सदुपयोग आदि गुणों का होना आवश्यक माना है।<sup>5</sup> (कौ० अर्थ० 1, 5, 3—17) साथ ही भ्रष्ट अधिकारियों के लिए कठोर दण्ड का प्रावधान भी रखा है। प्रशासनिक अधिकारियों के भ्रष्ट होने सम्बन्धी मुद्दे पर अति व्यावहारिक विचारों का परिचय देते हुए कौटिल्य यह कहते हैं कि ‘जिस प्रकार जिह्वा पर रखे मधु का स्वाद न चाहने पर भी मिल जाता है उसी प्रकार प्रशासनिक

अधिकारियों के सदैव भ्रष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है।<sup>6</sup> इस सम्बन्ध में उन्होंने यह जोर दिया है कि नियुक्ति के समय तो अधिकारियों का प्रशिक्षण आवश्यक ही है साथ ही समय-समय पर भी उनके व्यवहार का परीक्षण करते रहना चाहिए, क्योंकि मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ सदैव एक सी नहीं रहती।<sup>7</sup> (कौ०अर्थ०२,९) उन्होंने व्यक्तियों में गुणों की प्रमुखता के आधार पर विभिन्न विभागों में व्यक्ति की नियुक्ति का प्रावधान रखा है।

यथा—

- सोनार में सच्चाई के गुण की प्राथमिकता होनी चाहिए। (कौ०अर्थ० २/१३/२)
- ईमानदार गुणों वाला व्यक्ति राजा का सलाहकार नियुक्त किया जाना चाहिए। (कौ०अर्थ०१,१०,१४)
- दूतों को वाक्पटु, सत्य घटना के वर्णन की क्षमता, कूटनीतिज्ञ, साहसी आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।<sup>८</sup>
- गुप्तचर विभाग में तीक्ष्ण बुद्धि वाले सम्मिलित होने चाहिए।

अतः कौटिल्य ने न सिर्फ नेतृत्व अपितु शासन के सभी कर्मचारियों के लिए नियुक्ति में उच्च श्रेणी की योग्यता व आचरण को महत्त्व दिया है।

व्यक्तिगत मूल्यों के अतिरिक्त कौटिल्य ने संगठनात्मक मूल्यों पर भी जोर दिया है। वे न सिर्फ वैयक्तिक शुद्धता बल्कि कार्यों की शुद्धता व प्रगति पर विचार करते हैं। प्रशासन किस प्रकार से विकास कार्यों को सम्पन्न करता है यह भी आवश्यक है। कौटिल्य 'योगक्षेम' के माध्यम से कल्याणकारी राज्य पर बल देते हैं। प्रशासन द्वारा प्राकृतिक आपदाओं में प्रजा के लिए अनाजों का संग्रह कौ०अर्थ०४/३/१७, कमजोर वर्ग को विशेष सुविधा प्रदान करना, नागरिकों को रोजगार के अवसर देना कौ०अर्थ०५/३/२८, आर्थिक हानि में क्षति-पूर्ति कौ०अर्थ०२/२१/२५, प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा एवं संवर्द्धन कौ०अर्थ० २/२/४, नागरिकों द्वारा अच्छे आचरण के प्रदर्शन के लिए नियमों को बनाना कौ०अर्थ०१२/५/३, ४-२४ आदि कार्यों को सम्पन्न करना, प्रशासन का संगठनात्मक मूल्य माना है। यदि प्रशासनिक अधिकारी व्यय के लिए नियत धनराशि को वर्ष भर में खर्च नहीं कर पाता तो वह दो अपराधों में दोषी ठहराया जाता था। एक तो वह राजकीय कार्य अधूरा पड़ा रहा जिसकी पूर्ति के लिए धन नियत किया गया था और दूसरे उन कर्मचारियों का पेट कटा जो उस कार्य में लगते। ऐसे कर्मचारियों के लिए यथोचित दण्ड देने का प्रावधान कौटिल्य ने रखा था।<sup>९</sup> इस प्रकार कौटिल्य 'प्रजा सुखे, सुखं राज्ञः' की नीति को अपनाते हुए राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में भी विकेन्द्रीकृत प्रशासन का समर्थन करते हैं।

### कौटिल्य के प्रशासनिक मूल्यों संबंधी विचारों की वर्तमान समय में उपादेयता :

- नेतृत्व के मूल्यात्मक गुणों पर अधिक जोर देते हुए कौटिल्य का मत है कि नेतृत्व जैसा होगा अधीनस्थकर्मि उसी प्रकार का कार्य करेंगे।<sup>10</sup> यही कारण है कि उसने नेतृत्व में मूल्यपरक गुणों को ज्यादा महत्त्व दिया है। वर्तमान समय में भी नेतृत्व सत्यनिष्ठ, स्वार्थरहित, उत्साही, प्रगतिवादी, सदाचारी, दूरदर्शी, आदि गुणों से युक्त होगा तो प्रशासन निश्चित रूप से उच्च स्तर को प्राप्त होगा।
- कौटिल्य ने जिस प्रकार का पवित्र, धर्मपरायण नेतृत्व का समर्थन किया है, उसके माध्यम से निश्चित ही प्रशासनिक सर्वोच्चता को प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा नेतृत्व अपने अधीनस्थों के मध्य आदर्श उदाहरण प्रस्तुत कर उन्हें स्वाभाविक रूप से कर्तव्यनिष्ठता की प्रेरणा देता है।
- समय-समय पर आचरण परीक्षण कर्मचारियों के अनुचित कार्यों पर अंकुश लगाने में महत्वपूर्ण हो सकता है। वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था नियुक्ति के बाद भी समय-समय पर प्रशासनिक कर्मचारियों के आचरण प्रशिक्षण से भ्रष्टाचार को बहुत सीमा तक रोका जा सकता है।
- तकनीकी योग्यता के साथ मूल्यात्मक गुणों का परीक्षण एवं शिक्षण प्रशासनिक कर्मचारियों को विकासोन्मुख दृष्टि देगा। वर्तमान प्रशासनिक भर्ती का मापदण्ड किताबी ज्ञान पर आधारित है जबकि प्रशासन में वैयक्तिक गुणों की आवश्यकता है जिसके द्वारा ही व्यक्ति प्रशासनिक कार्यों को सामाजिक आवश्यकता के अनुकूल बना सकता है।
- प्रशासन को पवित्रता, ईमानदारी की भावना अधिक प्रगतिशील बनायेगी। कौटिल्य ने प्रशासकों में आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रवृत्ति<sup>11</sup> पर जोर देकर यह सिद्ध करना चाहा कि इन्हीं गुणों से युक्त व्यक्ति में कार्य के प्रति समर्पण की भावना आ सकती है और तभी प्रशासन, विकास प्रशासन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।
- कौटिल्य सफल प्रशासन में दण्ड को महत्वपूर्ण मानते हैं। दण्ड का भय भी व्यक्ति को सही दिशा की ओर ले जाता है। यदि कर्मचारी अपने कार्यों के प्रति स्वतः ही ईमानदार नहीं है तो उन्हें दण्डित कर सचेत किया जाए। परन्तु दण्ड अपराध के अनुसार ही मिले तो वह व्यक्ति को सुधारने में सहायक सिद्ध हो सकता है। (कौ०अर्थ०2,7,11-15)

- दण्ड के साथ अधिकारियों के प्रगतिशील कार्यों के लिए उन्हें पुरस्कृत कर उनके उत्साह को बढ़ाया जा सकता है (कौ०अर्थ०२,९,९) व इससे अन्य सहयोगी कर्मचारियों में उत्कृष्ट प्रदर्शन की भावना को जगाया जा सकता है। पदोन्नति कर्मचारियों को पुरस्कृत करने का उचित साधन है। वर्तमान सभी प्रशासनिक अभिकरणों में पदोन्नति का आधार कार्य प्रदर्शन होना चाहिए न कि सेवा अवधि।
- कौटिल्य ने कर्मचारियों को पुरस्कृत एवं दण्डित करने से पूर्व सूक्ष्म जाँच का प्रावधान रखा है जिससे गलत निर्णय से बचा जा सके। अतः यह आवश्यक है कि प्रशासन में जिस व्यक्ति को दण्डित या पुरस्कृत किया जा रहा है उसके कार्यों की पूरी छान-बीन हो और पूर्ण रूप से सिद्ध होने के बाद ही कोई कदम उठाया जाए। कौटिल्य के अनुसार यह कार्य चुनौतीपूर्ण है अतः इसमें अत्यन्त सावधानी व कुशल जाँचकर्ता की आवश्यकता है। (कौ०अर्थ०२,७,२९) जाँच के सन्दर्भ में भी कौटिल्य का यह सुझाव है कि यह कई स्तरों पर गुप्त माध्यमों से होनी चाहिए जिससे अभियुक्त अपने दोषों को छुपा न पाये।
- कौटिल्य की इस विचार शृंखला में सबसे महत्वपूर्ण बात है कि उन्होंने दोषी अधिकारियों के तुरन्त निलम्बन का सुझाव दिया है। वर्तमान व्यवस्था में भ्रष्ट अधिकारियों का या तो स्थानान्तरण कर दिया जाता है, या फिर आंशिक रूप से पदच्युत किया जाता है। लम्बी न्यायिक प्रक्रिया में जब तक वे दोषी पाये जाते हैं तब तक उनकी सेवा निवृत्ति की आयु हो जाती है। यह ढीली प्रक्रिया प्रशासन के नकारात्मक स्वरूप का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य की प्रशासनिक दृष्टि वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था को कार्योन्मुख, प्रगतिशील, सामाजिक हितोन्मुख बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण हो सकती है। संभवतः कौटिल्य की मूल्यपरक प्रशासनिक दृष्टि ही मौर्यकाल की सफलता का कारण थी। कौटिल्य के विचारों की महत्ता इस तथ्य से और बढ़ जाती है कि उन्होंने अपने चिन्तन में प्रत्येक बिन्दु का व्यावहारिक तर्क प्रस्तुत किया है जिस कारण उनके विचारों को कार्यरूप देना अधिक सुगम है।

#### संदर्भ ग्रन्थ :

- 1- Vohra, Shalini. *Ethical Vision of Management—A Vedantic Approach Towards Value Based Administration*, AIHC, Pune, p. 843
- 2- Ibid, p. 843
3. प्रसाद, चन्द्रदेव. *कौटिल्य*, यूनिवर्सल बुक सेन्टर, भोपाल, 1986, पृ०—92

- 4- Kumar, N. Siva and U.S. Rao. *Guidelines for Value Based Management in Kautilya Arthashastra*, Journal of Business Ethics 15 : 415-423, 1996, Kluwer Academic Publisher, Netherland, p. 416
- 5- Chamola, S.D. *Kautilya Arthashastra and the science of Management*, Hope India Publication Gurgaon, 2007, p. 98
6. शर्मा, देवकान्त. *कौटिल्य के प्रशासनिक विचार*, प्रिन्ट वैल, जयपुर, पृ०-6
7. वही.
- 8- Kumar, N. Siva and U.S.Rao. *ibid*, p. 419
9. आचार्य, दीपंकर. *कौटिल्यकालीन भारत*, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1989, द्वितीय संस्करण, पृ०-246
- 10- Chamola, S.D. *ibid*, p. 100
- 11- Ramaswamy, T.N. *Essentials of Indian State Craft*, Munshiram Manoharlal Publication Pvt. Ltd., 1994, p. 53

**अन्य संदर्भ ग्रन्थ :**

- 1- Gokhale, Sandeep N. and Shubhash Bhawe, *Value Based Management – The Pedagogy*, AIMS, Pune
- 2- Kangle, R.P. *The Kautilyan Arthashastra*, A Study Motilal Banarasidas, New Delhi
3. त्रिपाठी, मणिशंकर. *कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार*, मोतीलाल बनारसीदास, 1998
- 4- Chunder, P.C. *Kautilya on Love and Morals*, Jayanthi, Calcutta (India).
- 5- Rao, M.V. Krishna. *Studies in Kautilya*, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1958.

\*\*\*\*

## मानवमूल्य विमर्श एवं समकालीन भारतीय आध्यात्मिक मानववाद

मलय कुमार झा\*

ऋचोह यो वेद स वेद देवान् । यंजषि यो वेद स वेद यज्ञम् ।।

समानि यो वेद स वेद सर्वम् । यो मानुषं वेद स वेद ब्रह्म ।।<sup>1</sup>

अर्थात् जो ऋग्वेद को जानता है, वह मात्र देवताओं को जानता है। जो यजुर्वेद को जानता है वह केवल यज्ञ को जानता है। सामवेद जानने वाला इन सबको जानता है, किन्तु जो मनुष्य (मानव) को जानता है वही वास्तव में ब्रह्म को जानता है।

आर्ष ऋषियों का यह वचन मानव के प्रति उनके जिज्ञास्य भाव को व्यक्त करने तथा मानव मूल्यों के प्रति उनके सम्मानजनक दृष्टिकोण का परिचायक है।

वर्तमान मनुष्य अपनी समाजिक व्यवस्था में रहते हुए मूल अभीप्सा में स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु सतत परिवर्तनशील व संघर्षशील हैं। उसके संघर्ष का साक्षात् परिणाम मनुष्य के नैतिक एवं मानवीय व्यवहारों से परिलक्षित होता है। इसी परिलक्षण में समग्र रूप से मूल्यों का रूपान्तरण होता एक प्रबुद्ध चिन्तक देख लेता है। विश्वभर के मानव मात्र में व्यष्टि का समष्टि के साथ मूल्य के स्तर पर संघर्ष समकालीन परिदृश्य की एक जटिल दार्शनिक पहेली बन कर हमारे सामने उपस्थित है। सामान्य जीवन की कठिनाईयों के मध्य आदर्शवादी मूल्यों की स्थापना एक दुर्गम मार्ग की दिशा में प्रयाण करने जैसा है, यह सहज ही बोधगम्य है। इन परिस्थितियों में क्या इसके साकार होने की संभावना इतनी क्षीण हो गयी है? वैज्ञानिक युग में विचारशीलता एवं मूल्य सम्बन्धी विमर्श क्या नयी स्थापनाओं की ओर उन्मुख नहीं हो चुका है? अवश्य ही अवांछनीय एवं हेय मूल्यों के साथ मानवीय गरिमा का यह अवमूल्यन स्थायित्व नहीं प्रदान कर सकता है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह बात देखने को मिलती है कि जब—जब मानव एवं उसके मूल्यों का ह्रास हुआ है उसके उपचारार्थ सघन दैवीय चेतना से सम्पन्न महामानवों ने विष पीकर भी उसका समाधान प्रस्तुत किया है। काल के क्रम में मूल्यों का परिवर्तनशील होना सामान्य सी बात है। किन्तु निरपेक्ष और आदर्शवादी मूल्यों की खोज की आवश्यकता आज भी अनुभव की जा रही है। धन्य है यह 'मूल्यों' का परिवर्तनशील जीवन जिसने समय—समय पर महामानवों के उद्भव का हेतु बनना स्वीकार किया हुआ है।

व्यवहारिक एवं आदर्शवादी मूल्यों के मध्य एक ऐसा भी मार्ग उपलब्ध है जो सम्भवतः इन दोनों के अन्तर को कम करते हुए ग्राह्य मूल्य विमर्श प्रस्तुत करता है। स्वच्छन्दवादी मूल्यों एवं कथित धार्मिक मूल्यों के एकाकी प्रयासों से उत्पन्न पूर्ण या अंशतः असफल मूल्य निर्धारक तत्वों को पुनर्व्यवस्थित करने का प्रयास दार्शनिक

इतिहास में मानववाद (Humamism) की संज्ञा से जाना जाता है। वस्तुतः मानववाद एक मूल्य सम्बन्धी विमर्श हैं। आदर्श एवं व्यवहार का द्वैत वस्तुतः सिद्धान्त एवं क्रियात्मकता के द्वैत का आभासन कराता है। इसी द्वैत की समाप्ति हमें सभी प्रकार के मानववादी विचारों की चिन्ता में प्राप्त होती है। विभिन्न प्रकार के मानववाद चाहे वह पूर्व का हो चाहे पश्चिम का, चाहे वह वैज्ञानिक हो या आध्यात्मिक, पुनः चाहे वह धार्मिक हो या धर्मनिरपेक्ष हो, कम से कम इस 'सिद्धान्त एवं व्यवहार' के मूल्य स्थापन के संघर्षशील नियामकों की दूरी को घटाते पाये जाते हैं। मानव वाद के सम्बन्ध में यह परिभाषिक रूप से स्वीकृत किया जाता है कि **यह एक मानव केन्द्रित दर्शन है।** एक दार्शनिक के लिए किसी पूर्वाग्रह को स्वीकार कर आगे चिन्तन करना सैद्धान्तिक त्रुटि उत्पन्न करता है किन्तु 'मानव' को केन्द्र में रखते हुए पूरे चिन्तन प्रासाद का निर्माण इस लिये वांछनीय एवं स्वीकार्य होता है क्योंकि मूल्यों की स्थापना मनुष्य के परिप्रेक्ष्य में ही संभव एवं उपयोगी बन सकता है। मानववाद के नियामक तत्त्वों में यह क्रियात्मकता स्वयं ही एक मानववादी घटक तत्त्व है। इस प्रकार मूल्यों के स्वीकार्यता की दृष्टि से मानववादी चिन्तन एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समाधान प्रस्तुत करता है। समकालीन विश्व में मानव की समस्याओं के निदान के साथ उसकी गरिमा को सुरक्षित रखने की चेष्टा मानववाद को प्रासंगिक बना देता है।

मूल्य स्थापन सम्बन्धी संघर्ष में घमासान का काल बीसवीं शताब्दी अभी पुराना नहीं हुआ है। हमने उसकी छाया से निकलना अभी आरम्भ ही किया है। उत्पादन एवं वितरण सम्बन्धी राजनैतिक वाद-विवादों में संवाद की स्थिति मानववाद ही प्रदान कर सकता है। प्रख्यात विचारक और आध्यात्मिक मानववादी दार्शनिकों के श्रेणी में अग्रगण्य आचार्य रजनीश अर्थात् ओशो ने भी इस ओर इंगित किया है।

**ह्यूमैनिस्टिक सोसाइटी या मानववादी समाज की रचना का मूलभूत आधार होगा कि व्यक्ति परम मूल्यवान है। समाज परम मूल्यवान नहीं है, न ही संपदा परम मूल्यवान है। संपदा और समाज दोनों की अल्टीमेट वैल्यू नहीं, चरम मूल्य नहीं है। चरम मूल्य व्यक्ति का है एक-एक व्यक्ति का है।....एक-एक व्यक्ति मूलतः स्वभावतः असमान है और भिन्न है और जो समाज व्यवस्था व्यक्ति की भिन्नता को स्वीकार नहीं करती है वह व्यक्ति को नष्ट करने वाली बनेगी ।<sup>2</sup>**

समकालीन भारतीय चिन्तन धारा का आरम्भ व्यवस्थित क्रम से स्वामी विवेकानन्द के आगमन से होता है। स्वामी विवेकानन्द को एक मानववादी प्रवक्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है। वैदिक ऋषियों से लेकर तत्कालीन सभी महामानवों के विचारों का अवगुन्थन करके उन्होंने नये मनुष्य के किये जिस विचारधारा का प्रतिपादन किया है वह आध्यात्मिक मूल्यों का आरोपण उस (मनुष्य) पर करता है। इस प्रकार

उनके चिन्तन की प्रवृत्ति आध्यात्मिक मूल्यवादी चिन्तक के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करता है। अपने उद्बोधनों में उन्होंने कहा भी है —

— मैं ऐसे ईश्वर का उपासक हूँ जिसे मूर्ख लोग मनुष्य कहते हैं ।

—दरिद्र नारायण की सेवा ही सच्ची ईश्वर आराधना है आदि ।

मानवीय मूल्यों के प्रति इतनी उदात्त चेतना का होना स्वामी विवेकानन्द को एक आध्यात्मिक मानववादी दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

यहाँ हम देख रहे हैं कि बीसवीं शताब्दि के आरम्भ से अद्यतन, दूसरे शब्दों में समकालीन युग में विचारकों ने सर्वाधिक बल देते हुए मूल्यों के आदर्श परक रूप की व्यावहारिक रूपरेखा निश्चित करने का साध्य रखा है। मूल्यवादी चिन्तन की आवश्यकता इसलिए भी अपरिहार्य है क्योंकि बदलते परिवेश के साथ ताल दर ताल मिलाकर चलने से ही स्थायी मूल्यों की पहचान सम्भव हो पाती है और अतः मूल्यों का व्यवहारिक स्वरूप निश्चित हो सकता है। मानववादी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में यही सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य भी है।

मानववाद की क्रियात्मकता सम्बन्धी अवधारणा जो कि सृजनात्मकता को मूल मानवीय स्वभाव के रूप में स्वीकार करता है तत्त्वतः सैद्धान्तिकता से व्यवहारिकता की ओर अपने आग्रह को संपुष्ट करता है। यही कारण है कि सभी मानववादी चिंतकों के दर्शन में एक 'जीवन-दर्शन' के निर्देशन की व्यवस्था (या विचार) की प्राप्ति होती है। मानवीय मूल्यों की गरिमा को मुख्यतः केन्द्र में रखते हुए ही सभी प्रकार के आदर्शों के बीच स्वैच्छिक एवं सोद्देश्य चयन को अपनाना, मूल्यों के संघर्षशील प्रत्ययों को विरेचित करने का ही कार्य है। सरलता के लिए हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि हमारे सामने यद्यपि विभिन्न आदर्शवादी मूल्यों के उदाहरण है फिर भी हम उनमें से उन्ही मूल्यों का चयन करते हैं जो मानवीय गरिमा एवं मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए अन्ततः मानव मात्र के कल्याण का हेतु बनता है। इस प्रकार मानववादी मूल्य हमें उन सभी संघर्षों से बचा लेता है जिनके स्थापित हो जाने पर भी मानवीय मूल्यों के सशक्त होने की कोई संभाव्यता नहीं होती। अर्थात् वे सभी मूल्य जो मानव केन्द्रित नहीं हैं वस्तुतः हमारे (मानव के) किसी सार्थक प्रयोजनमूलकता को अन्ततः निरसित कर ही देते हैं।

मानववादी विचार धाराओं के इतने व्यापक स्तर पर समर्थन मिलने का एक उपयुक्त कारण वस्तुतः मूल्यों सम्बन्धी जटिलताओं को कम करने का उनका सहज बोध माना जा सकता है। मुख्य दार्शनिक धाराओं में यह मानववादी विचारधारा मूल्यमीमांसा के ज्यादा निकट रहा है। मनुष्य के परितः/तत्त्वतः व्यावहारिक चुनौतियों के उत्तर देने में धार्मिक एवं परम्परागत समाधान (और वर्तमान स्थिति में इसमें वैज्ञानिक



समाधान भी सम्मिलित किया जाना चाहिए) अन्ततः अधिक जटिलताओं को उत्पन्न करने के ही हेतु बन गये। इन्हीं कारणों से मानववादी विचारधाराओं की व्यापकता कुछ इस प्रकार बढ़ी कि अन्य सभी विचारधाराओं ने स्वयं को मानववादी सिद्ध करने की होड़ आरम्भ कर दी है। मानव से आरम्भ करके मानव के कल्याण के अन्तिम सोपान तक की यात्रा में रुचि रखने के कारण मूल्य के प्रति मानववादी विचारकों में प्रधान रूप से उसके रूपान्तरण के प्रति उदारतापूर्वक स्वीकृति दी, और इसी परिप्रेक्ष्य में ही मानववाद का वह स्वरूप उभरा जिसने अतीत के सभी मूल्यवादी चिन्तन का मानववाद के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या प्रस्तुत किया जाना आवश्यक और अपरिहार्य कर दिया।

मानववादी विचारधाराओं के मध्य वैषम्य तथा उनके मूल घटकों में साम्य की चर्चा अधिमानववादी चिन्तन है जो विशद गवेषणा का विषय है। तथापि अति संक्षिप्त रूप से प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारों में मानवमूल्य के निर्धारक प्रणाली में रुचि रखने वाले मानववादी विचारधारा के इतिहास की चर्चा समीचीन है।

यद्यपि मानववाद (Humanism) पद का आरम्भ पश्चिम की देन है जो प्रोटागोरस की उस प्रसिद्ध उक्ति जिसमें उसने कहा था कि **मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड हैं**<sup>१</sup> से माना जाता है, किन्तु विशेष रूप से यह पुर्नजागरण काल से दार्शनिकों द्वारा विशेष रूप से उल्लेखित किया जाता रहा है। धार्मिक रूढ़ियों में फंसे 'मानव' का विद्रोह का स्वर उसके 'स्वतंत्रता' के मूल्य की माँग से परिलक्षित होता है। यही कारण है कि मानववादी विचारों के मूल में मनुष्य की गरिमामयी स्वतंत्रता का मूल्यपरक तत्त्व अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है। मानववाद के पश्चिमी प्रकार धार्मिक मानववाद, धर्मनिरपेक्ष मानववाद, भौतिकवादी, मानववाद, वैज्ञानिक मानववाद आदि सभी प्रकार के वैचारिक आन्दोलनों में वस्तुतः मानवमूल्य के संघर्षशील उपादानों के मध्य रस्साकस्सी की गई है। किन्तु भारतीय परिवेश में यह संघर्ष दूसरे प्रकार का रहा है। जहाँ पश्चिम ने हमें यह बताया कि मनुष्य अपने मूल पाप के कारण ही देवत्व के आसन से च्युत होकर एक शापित जीवन जीने के लिए विवश है उसके विपरीत आर्ष साहित्य के अनुशीलन से हमें यह ज्ञात होता है कि **मनुष्य वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न ही है**। अपने अज्ञानता के कारण ही तथा अज्ञानता दूर होने तक ही वह कष्ट सहता है। वैदिक चिन्तन स्पष्टतः **अमृतस्य पुत्राः**<sup>२</sup> कह कर जीवात्मा का मान बढ़ाता है। महाभारतकार ने भी **नहि मानुषात् हि श्रेष्ठतर किञ्चित्**<sup>३</sup> कह कर मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। इस प्रकार के आने को उदाहरणों से मानववादी चिन्तन की मूल भावना का व्यापक अन्तर प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन में दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय सन्दर्भों में मानववादी विचारधारा की आवश्यकता क्यों पड़ी इसका संकेत स्वामी विवेकानन्द के उस प्रसिद्ध कथन का स्मरण कराता है जिसमें उन्होंने कहा था कि **भारत को भौतिक संसाधन एवं पश्चिम को आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता**

है। आगे यह भी उन्होंने कहा था कि सर्वोच्च मानवीय लक्ष्य का पाया जाना भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के समन्वय से ही सम्भव है। एक प्रकार से उन्होंने पूरे विश्व के मानवों की स्थिति का वर्णन ही नहीं किया अपितु उसके समाधान की दिशा भी बता दी और एक मानववादी चिन्तन की आधारशिला भी रख दी। भारतीय मानववाद का आधुनिक स्वरूप भी स्वामी विवेकानन्द से ही आरम्भ हुआ माना जाता है। स्वामी विवेकानन्द के ही ज्ञानयोग व्याख्यानमाला से उद्धृत करते हुए उनकी जीवनी ग्रन्थ में रोमों रोलों ने विवेकानन्द के मानव सम्बन्धित दृष्टि को रेखांकित किया है।  
....विवेकानन्द कहते हैं...

**मानव स्वभाव की महिमा को कभी न भूलो । हम सब सर्वोच्च ईश्वर हैं...  
मैं वह अपार सागर हूँ जिसके ईसा, बुद्ध आदि केवल तरंगें मात्र हैं।<sup>6</sup>**

समकालीन सन्दर्भों में भी मानव मूल्य सम्बन्धित आदर्श का अनुकरण स्वामी विवेकानन्द के वाणी से किया जाता है। वैश्विक दूरी के घटते क्रम में निरन्तर प्राच्य एवं पाश्चात्य मूल्यों का संक्रमण एक स्वाभाविक सी प्रक्रिया है। इन्हीं संक्रमण से जटिलताओं से मानव एवं उसके मूल्यों के पुनःनुशीलन की आवश्यकता असमाप्तप्राय है इन्हीं वातावरण में मानववादी विचारकों की एक सुदीर्घ परम्परा पल्लवित एवं पुष्पित हुई है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में मानववादी विचारकों की शृंखला स्वामी विवेकानन्द से आरम्भ होती हुई श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी, रविन्द्रनाथ टैगोर, मानवेन्द्र नाथ राय, पं० जवाहर लाल नेहरू आदि के मानववादी विचारों से समृद्ध होती है। वस्तुतः सभी प्रकार के मानववाद अपने तत्कालीन मानव एवं उसके मूल्यों की स्थिति का दर्शन विवेचन करते हैं अतः स्वतंत्रता के पश्चात से अद्यतन की स्थिति का आकलन करने के लिए हमें थोड़ा और आगे आना होगा। समकालीन भारतीय मानववादी विचारकों की शृंखला को आगे बढ़ाते हुए कुछ ऐसे महामानवों की चर्चा करना समीचीन होगा जिनका कार्य क्षेत्र मानव एवं उसके मूल्यपरक अध्ययन की ओर वैश्विक प्रभाव उत्पन्न करने वाला रहा है। आज हम उन्हें लोकप्रिय चिन्तक के रूप में जानते हैं। वस्तुतः वे सर्वकालिक मानववादी दार्शनिक के रूप प्रतिष्ठित होने की सम्भावना से युक्त हैं।

मानव मात्र के कल्याण के निमित्त सभी संकीर्णताओं से उपर उठते हुए कुछ ऐसे क्रियाशील संबुद्ध प्रज्ञा सम्पन्न महामानवों का आगमन स्वतंत्रता के पश्चात से स्पष्टतः आरम्भ होकर आज भी साक्षात् हमारे सामने उदाहरण के रूप में दृष्टिगोचर होता है उनमें पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, जे. कृष्णमूर्ति, महर्षि महेश योगी, आचार्य रजनीश, श्री श्री रविशंकर जी आदि प्रमुख हैं।

जीवन में आध्यात्मिकता एवं भौतिकता के सामंजस्य द्वारा संतुलन, ध्यान प्रणालियों के आविष्कार, नैतिक एवं आध्यात्मिक मार्ग के इस उत्तर आधुनिक युग में प्रासंगिकता की पुनर्स्थापित करने का प्रयास, जीवन जीने की विशिष्ट कला का औपनिषदिक शैली (seminar style) द्वारा प्रयास उनके एकल प्रयासों में उभयनिष्ठ तत्त्व हैं।

वस्तुतः ये तत्त्व मानवमूल्य के क्षरण को कम करने में न केवल सहायक हैं अपितु उस चेतना से जोड़ने में भी उपादान स्वरूप हैं जो आर्ष ऋषियों का संकल्प रहा है।

उक्त सभी विचारकों के मानव मूल्य सम्बन्धी स्थापनाओं में मूलतः मानवीय गरिमा, स्वतंत्रता, क्रियात्मकता सम्बन्धों का संतुलन, अन्तर्राष्ट्रियतावाद आदि के दर्शन मिलते हैं। इतनी विविधताओं के साथ तकनीकी सम्पन्न जीवन दर्शन का पाया जाना भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व को चकित कर देने वाला है। मानव अपनी स्वयं के प्रति जिज्ञास्य भाव से सकल विश्व भर से इन नये आध्यात्मिक मानववादी चिन्तकों के शिविरो में *think global act local* की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। मानव मूल्य के प्रति इस जागरूकता का परिणाम अवश्य ही आशा एवं उत्साह का संचार करता है। नये परिवेश में व्यक्ति स्तर पर किये जाने वाले आध्यात्मिक, यौगिक, शारीरिक, मानसिक व सामाजिक स्तर पर मूल्यपरक रूपान्तरण हेतु अनुप्रयोग विश्वभर में अपनाये एवं सराहे जा रहे हैं। आशावादी जीवन दर्शन का प्रतिपादन करने वाले इन आध्यात्मिक मानववादी चिन्तकों के प्रयास मूल्य सम्बन्धित विमर्श को एक सार्थक दिशा प्रदान कर रहे हैं।

#### सन्दर्भ एवं स्रोत :-

1. इतिहासोपनिषद-1
2. ओशो. गाँधी पर पुनर्विचार, डायमण्ड बुक्स, नई दिल्ली-20, 2008, पृ0-46
3. गुरु, विमला. मानववाद की भारतीय परम्परायें, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ0-19
4. उपनिषदर्शन. अद्वैत आश्रम कोलकाता, 1990, पृ0-18
5. महाभारत, शान्ति पर्व, गीताप्रेस गोरखपुर
6. रंगनाथानन्द, स्वामी. स्वामी विवेकानन्द का मानवतावाद, अद्वैत आश्रम कोलकाता 2007, पृ0-75, 76
7. विभिन्न पत्रिकायें; अहा जिन्दगी, लाइफ पॉजिटिव, ओशो वर्ल्ड एवं अन्तरताना (Internet) से प्राप्त सामग्री

\*\*\*\*\*

## भारतीय मूल्य परम्परा : एक दर्शनपरक अध्ययन

नमिता कपूर\*

जब हम मानव मूल्य की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है। अपनी परिस्थितियाँ, इतिहास क्रम और काल प्रवाह के संदर्भ में मनुष्य की स्थिति क्या है और महत्त्व क्या है—वास्तविक समस्या इस बिन्दु से उठती है। मध्य काल में इस निखिल सृष्टि और इतिहास क्रम का नियन्ता किसी मानवोपरि अलौकिक सत्ता को माना जाता था। समस्त मूल्यों का स्रोत वही था और मनुष्य की एकमात्र सार्थकता यही थी कि वह अधिक से अधिक इस सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करें। इतिहास या काल-प्रवाह उसी मानवोपरि सत्ता की सृष्टि था—माया के रूप में था, या लीला रूप में।

ज्यों-ज्यों हम आधुनिक युग में प्रवेश करते गये त्यों-त्यों इस मानवोपरि सत्ता का अवमूल्यन होता गया। मनुष्य की गरिमा का नये स्तर पर उदय हुआ और माना जाने लगा कि मनुष्य अपने से सार्थक और मूल्यवान है—वह आन्तरिक शक्तियों से सम्पन्न, चेतन स्तर पर अपनी नियति के निर्माण के लिए स्वतः निर्णय लेने वाला प्राणी है। सृष्टि के केन्द्र में मनुष्य ही है।

परन्तु एक ओर जहाँ सिद्धान्तों के स्तर पर मनुष्य की सार्वभौमिक सर्वोपरि सत्ता स्थापित हुई, वहीं भौतिक स्तर पर ऐसी परिस्थितियाँ एवं व्यवस्थाएँ विकसित होती गईं तथा उन्होंने ऐसी चिन्तनधाराओं की प्रेरित किया जो प्रकारान्तर से मनुष्य की सार्थकता और मूल्यवत्ता में अविश्वास करती गईं। बहुधा ऐसी विचारधाराएँ नाम के लिए 'मानववाद' के साथ विशिष्ट विशेषण जोड़कर उसका प्रश्रय लेती रहती हैं। परन्तु मूलतः वे मानव की गरिमा को कुण्ठित करने में सहायक हुई और मानव का अवमूल्यन करती गई हैं।

भारतीय संस्कृति में मूल्य को आत्मबोध अथवा इसके साधन से अभिन्न समझा जाता रहा है। मूल्यानुभूति में विषय और विषयी दोनों ही रूप रूपांतरित हो जाते हैं। क्योंकि मूल्यान्वेषण में इच्छा और विवेक दोनों सम्मिलित रहते हैं। किसी भी संस्कृति की पहचान उसमें अन्तर्निहित विशिष्ट जीवनदर्शन से होती है जो अपने अनुरूप एक विशेष मूल्य प्रणाली को समाहित किये रहती हैं। संस्कृति से ही समाज परिभाषित होता है और मनुष्य की पहचान भी इस तथ्य पर आधारित है कि वह किन आदर्शों को अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयास करता है।

सार्थक जीवन—विद्या के आदर्श नियामक रूप में भारत में संस्कृति के समानान्तर धर्म, सनातन धर्म अथवा आर्य-धर्म की चर्चा मिलती है। धर्म सनातन और सार्वभौम होते हुए भी देश, काल, जाति, पात्र एवं अवस्था के अनुसार व्यवस्थित होता है। धर्म एक

प्रकार की मर्यादा का वाचक है जिसकी पहचान विवेक से होती है। विवेक मर्यादित जीवन ही पुरुष को प्रकृति की दासता से मुक्त कराता है। इस मुक्ति का अनुसंधान ही पुरुष का परम लक्ष्य अथवा साध्य-साधन की व्यवस्था है जो समाज को मर्यादित बनाते हुए उसका आध्यात्मिक विकास करता है। इस विवेकमूलक नैतिकता से मर्यादित होने पर ही जीवन धर्म अथवा आदर्शोन्मुख संस्कृति में उन्नति अथवा मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है।

मनुष्य का जीवन बुद्धि की शक्ति से परिमार्जित होता है और वही से पशुओं से भिन्न तथा विशिष्ट भी बनाता है। मनुष्य ने केवल तर्क-बुद्धि ही नहीं होती क्योंकि तर्क-बुद्धि परम साध्य का ज्ञान नहीं दे सकती। मनुष्य का वैशिष्ट्य उस विवेक-बुद्धि के कारण है जो राग-द्वेष रहित होकर उसे परम साध्य का परिचय कराती है। मनुष्य की तर्कबुद्धि उसे साधनों का ज्ञान देती है और उसकी कार्य-दक्षता उसे इन साधनों को गढ़ने की योग्यता प्रदान करती है।

इस प्रकार मनुष्य का बुद्धिमत् और कृतिमत् उसे भोग और ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। पुरुषार्थ-चतुष्टय की अवधारणा में नैतिकता, उपयोगिता, उपभोग तथा आत्मदान के मूल्य संग्रहित हैं। इस साधना का मार्ग स्वधर्म के पालन से आरंभ होकर चरम-सत्य के साक्षात्कार रूप जीवन-मुक्ति तक विस्तृत है। साधन साध्य ज्ञान की यह मूल परम्परा ही भारतीय संस्कृति कही जा सकती है।

समान्यतया विश्व की सभी प्राचीन परम्पराओं में आत्मज्ञान के सन्दर्भ मिलते हैं किन्तु उसे जीवन का शाश्वत और सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार करना भारतीय परम्परा की विलक्षणता है।

भारत का नीतिशास्त्र वास्तव में हिताहित विवेचन है जिसका उद्देश्य मनुष्य को शुभाशुभ, उचितानुचित, कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराता है। शुक्रनीतिसार में वर्णित भारतीय नीति की परिभाषा में उपयोगितावाद से लेकर परमार्थ तक का समावेश करते हुए कहा गया है कि नीतिशास्त्र जीने का साधन, लोकस्थिति बनाएँ रखने वाला धर्म, अर्थ, काम का मूल तथा मोक्षप्रद है।<sup>1</sup> भारत में मूल्य को इच्छा पूर्ति के साधन के साथ-साथ आत्मोपलब्धि कराने वाला कहा गया है।

भारत में चिरकाल से धर्म के ज्ञान के लिए वेद को ही मुख्य प्रमाण माना जाता रहा।<sup>2</sup> वैदिक वाङ्मय में व्याप्त आध्यात्मिक दृष्टि विश्व की पूर्णता का परिचय देती है। वेदों में कर्मठ, नैतिक जीवन की ओर मनुष्य को प्रेरित करने की भावना निहित है। ऋषियों की प्रार्थना है कि सब ओर से भद्र, क्रतु, शुभ संकल्प उनके पास पहुँचे: देवता उन पर प्रसन्न हो तथा देवताओं का सख्य उन्हें प्राप्त हो; सुख और सम्पदा के बीच उन्हें देव निर्धारित आयु का भाग मिले।<sup>3</sup> माता-पिता बन्धु के समान देवता भी मनुष्य के रक्षक, पोषक और पथप्रदर्शक हैं। राजसत्ता की भाँति वे ऋत रूपी कानून का रक्षण

करते हैं।<sup>4</sup> इस व्यवस्था का पालन की मनुष्य के लिए आदर्श—जीवन का देवोपदिष्ट मार्ग है। देवताओं से मनुष्य को जो प्राप्त होता है उसके लिए यह एक नैतिक आवश्यकता है कि वह अपने आपको उस प्रतिमान के अनुरूप प्रस्तुत करने का प्रयास करें जो उसकी चेतना में देवसत्ता से अभिन्न रूप में प्रतिबिम्बित होता है। देवता मनुष्यों के अनुकरणीय आदर्श हैं।<sup>5</sup>

पाश्चात्य आचार दर्शन के मूल्यवाद के समान ही भारतीय नैतिक चिन्तन में पुरुषार्थ—सिद्धान्त, जो कि जीवन मूल्यों का ही सिद्धान्त है, में चार पुरुषार्थ या मूल्य माने गये हैं। पुरुषार्थ का तात्पर्य पुरुष का प्रयोजन है। भारतीय दर्शन में मूल्यों का चार वर्गों में बाँटा गया है। ये हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रथम तीन मूल्यों को त्रिवर्ग की संज्ञा दी गयी है और इन्हें सभी व्यक्तियों का आदर्श माना गया है। चतुर्थ मूल्य मोक्ष है जो जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है और जिसकी प्राप्ति के लिए आत्मबल और दृढ़—संकल्प की आवश्यकता है। आधुनिक शब्दावली में हम अर्थ और काम को 'भौतिक मूल्य', धर्म को 'नैतिक मूल्य' और मोक्ष को 'आध्यात्मिक मूल्य' कह सकते हैं।

अर्थ और काम जैविक आवश्यकताएँ हैं। ये मूल्य तभी बनते हैं जब किसी विशिष्ट लक्ष्य के साधन के रूप में इन्हें प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। भारतीय मनीषा ने धर्म या नैतिक आदर्श की सीमा के भीतर ही अर्थ और काम को मूल्य स्वीकार किया है। गीताकार का मान्यता भी यही प्रतीत होती है कि अर्थ और काम को धर्माधीन होना चाहिए और धर्म को मोक्षाभिमुख होना चाहिए। धर्मयुक्त किया गया आजीविकोपार्जन ही गीता के अनुरूप विहित है। इसी प्रकार गीता के अनुसार काम पुरुषार्थ को भी धर्म—अविरुद्ध होना चाहिए। श्री कृष्ण कहते हैं कि प्राणियों के धर्म—अविरुद्ध काम मैं हूँ (गीता 7/11)। गीता की दृष्टि में हमें भोगों से विमुख होने की अपेक्षा उनमें आसक्ति का त्याग करना चाहिए। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भोगों के अविरोध में रखने का प्रयास है।

इसी प्रकार जैन विचारकों ने सदैव ही व्यक्ति को स्वपुरुषार्थ से धनोपार्जन की प्रेरणा दी है। 'गौतम कूलक' में कहा गया है कि पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए बहन है और दूसरों की लक्ष्मी परस्त्री की लक्ष्मी के समान होती है। दोनों का ही भोग वर्जित है। अतः स्वयं अपने पुरुषार्थ से धन का उपार्जन करके ही उसका भोग करना न्यायसंगत है।<sup>6</sup> जैन दर्शन मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में अर्थ और काम को बाधक मानता है लेकिन जैन दर्शन यह कभी नहीं कहता है कि अर्थ एवं काम पुरुषार्थ एकांत रूप से हेय है। यदि वे एकान्त रूप से हेय होते तो आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव स्त्रियों की 64 और पुरुषों की 72 कलाओं का विधान कैसे करते ? क्योंकि उनमें से अधिकांश कलाएँ अर्थ और काम पुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं (कल्प सूत्र भगवान ऋषभदेव का वर्णन)। न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल

काम का जैन विचारणा में समुचित स्थान है। जैन विचारकों ने जिसके त्याग पर बल दिया है वह इन्द्रिय विषयों का भोग नहीं, वरन् भोगों के प्रति आसक्ति या राग-द्वेष की वृत्ति है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि गृहस्थ उपासक धर्म पुरुषार्थ, अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ का इस प्रकार आचरण करें कि कोई किसी का बाधक न हो।<sup>7</sup>

भारतीय पारम्परिक मूल्यों को आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक सामाजिक तथा राजनैतिक मूल्यों को पृथक्-पृथक् वर्गीकृत करना असंभव है। मूल्य प्रणाली की यह विशेषता भी भारतीयों को समन्वयात्मक समग्र जीवन-दृष्टि का परिणाम है।

बहुधर्मी भारतीय समाज में विधानात्मक मूल्यों ने सकारात्मक भूमिका निभायी है और आज भी हमारे जीवन में उपयोगी है इसलिए स्मृतिकारों ने युगधर्म, युगास आपद-धर्म, अधिकार भेद के आधार पर परिवर्तन के सत्य की व्याख्या की। ऋषियों ने भी बदलती हुई जीवन परिस्थितियों के साथ जीवन मूल्यों का पुनः-पुन विश्लेषण एवं विवेचन करते हुए अपवादों का उल्लेख किया है। छान्दोग्य उपनिषद्, (1/10) के उशस्ति का महाव्रत में उच्छिष्ट उड़द खाना तथा महाभारत (12/141) में ऋषि विश्वामित्र का कुत्ते की जाँघ का माँस खाने का आग्रह आपद्धर्म या अपवाद के उदाहरण हैं।

इन उदाहरणों से यह ध्वनित होता है कि मृत्यु की अपेक्षा जीवन श्रेष्ठ है अतः येन-केन प्रकारेण जीवन की रक्षा की जानी चाहिए। जीवित रहने पर ही मनुष्य पुनः धर्माचरण कर कल्याण को प्राप्त कर सकता है। धर्म-अधर्म का निर्णय विवेक द्वारा किया जाना चाहिए। आपद्धर्म के कारण शाश्वत मूल्यों की अवहेलना न होने लगे इसलिए इनका उल्लंघन होने पर प्रायश्चित ही व्यवस्था की गई है।

भारत की यह अध्यात्म प्रधान मूल्य प्रणाली 'सर्वे भवन्तु सुखिन' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का संदेश प्रदान करते हुए विश्वशान्ति की स्थापना की सतत् प्रेरणा देती है।

#### सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. सर्वोपजीवक लोकस्थिति कृन्नीतिशास्त्रकम्।  
धर्मोर्थकाममूलम् हि स्मृत मोक्षप्रदयन्तः ।।, शुक्रनीतिसार, 1/5
2. (क) वेदोऽखिलो धर्ममूलम्, मनुस्मृति, 2/6  
(ख) वेदो धर्ममूलम्, गौतम धर्मसूत्र, 1/1/2
3. ऋग्वेद. 1/7, 1/ 89/1, 8/1/1/101
4. ऋग्वेद. 1/89/1, 5/72/2
5. गीता. 3/10-11
6. प्राकृत सूक्ति सरोज, 11/11
7. योगशास्त्र, 1/52

\*\*\*\*\*

## सात्त्विक, राजसिक और तामसिक ज्ञान

स्वामी रंगनाथानन्द\*

भारतीय चिन्तन परम्परा में वर्णित सनातन मूल्यों को व्याख्यायित करते  
ब्रह्मलीन स्वामी रंगनाथानन्द के इस लेख को हम 'भगवद्गीता का सार्वजनीन  
सन्देश' पुस्तक से साभार ग्रहण कर रहे हैं। —सम्पा.

सर्वभूतेषु येनैकं भावं अव्ययम् ईक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

‘वह ज्ञान जिसके द्वारा एक अविनाशी सत्ता पृथक् में अपृथक् रूप से, सभी जीवों में देखी जाती है, उस ज्ञान को सात्त्विक जानो’।

इस श्लोक से आगे ज्ञान तीन गुणों की दृष्टि से समझाया गया है—सत्त्व, रजस् और तमस्। यह श्लोक सात्त्विक ज्ञान के बारे में है। सात्त्विक ज्ञान क्या है? यह श्लोक बहुत उल्लेखनीय परिभाषा प्रदान करता है। सर्वभूतेषु येन एकं भावं अव्ययम् ईक्षते, ‘वह जिसके द्वारा कोई सभी जीवों में एक ही अविनाशी सत्ता को विभिन्न रूपों में व्यक्त होते हुए देखता है’; अविभक्तं विभक्तेषु, ‘प्रकट रूप से विभाजित वस्तुओं में अविभक्त रूप से’; तत् ज्ञानं विद्धि: सात्त्विकं उसे सात्त्विक ज्ञान जानो हैं—वह जिसके द्वारा कोई वह एक भावं, ‘वह एकत्व’ देखता है। शंकराचार्य कहते हैं, भाव शब्द: वस्तु वाची, ‘भाव शब्द का यहाँ पर अर्थ वस्तु, सत्ता से है’। संसार की विभिन्न वस्तुओं और जीवों में जो एक ही सत्ता को उनमें धड़कते हुए देखता है, उस स्त्री या पुरुष में सात्त्विक ज्ञान है। अविभक्तं विभक्तेषु, ‘उन वस्तुओं में अविभक्त, जो प्रकट रूप से विभक्त हैं’; यह एक अद्भुत अभिव्यक्ति है। आप और मैं विभक्त हैं; लेकिन वही आत्मा आप में और मुझमें है। स्वयं में अविभक्त यह मानो जगत् की सभी विभक्त वस्तुओं में विभक्त रूप से विद्यमान है। यह एक अत्यन्त गहन विचार है : किस प्रकार स्त्री व पुरुष अपने ज्ञान की खोज में विकसित होते हैं। वह ज्ञान की खोज तामसिक श्रेणी से राजसिक श्रेणी में से होती हुई उच्चतम सात्त्विक श्रेणी में पहुँचती है। सत्त्व की श्रेणी में कोई इस समझ पर आता है कि इन सब विभिन्नताओं के पीछे एकल सत्य है। यह सत्य स्त्री—पुरुष ग्रहण करते हैं। यह उस भौतिकशास्त्री की भाँति है जो एकीकृत ऊर्जा क्षेत्र (Unified field energy) की खोज रहा है। विभिन्न ऊर्जा क्षेत्र हैं, और आइन्स्टीन जैसे भौतिकशास्त्री उसे एकीकृत रूप में देख रहे हैं वहाँ ज्ञान सात्त्विक होने के प्रयास में है। यह ज्ञान कि ये वस्तुएँ विभक्त हैं, राजसिक हैं; और उससे निम्नतर तामसिक है। हमारी महान् अद्वैतवादी दृष्टि में भारत में हमने अनेक में एक की खोज की, और वह एक, जगत् की इन विभिन्न वस्तुओं में प्रत्येक में पूर्ण रूप से विद्यमान है। अविभक्तं, ‘अविभक्त’; विभक्तेषु, ‘सभी प्रकट रूप से विभक्त वस्तुओं में’। यह एक अत्यन्त गहन और सूक्ष्म विचार है। इसीलिये, सात्त्विक ज्ञान अत्यन्त गहन और सूक्ष्म है।

इस ज्ञान का मानव सभ्यता और संस्कृति पर व्यापक प्रभाव है। जब तक यह

\*साभार — भगवद्गीता का सार्वजनीन सन्देश, भाग तीन  
(गीता के 18वें अध्याय के श्लोक संख्या 20—21—22वीं की व्याख्या)



सात्त्विक ज्ञान लोगों के मन में नहीं आता, कोई समन्वय, शान्ति या सद्भाव समाज में नहीं आ सकता। शेष—राजसिक और तामसिक ज्ञान—परस्पर विरोधी, हिंसात्मक और विभाजनकारी हैं। यदि यह ज्ञान कि हम एक हैं आता है, तब शान्ति तथा इस प्रकार के महान् विचार आएँगे। अतः सात्त्विक ज्ञान अत्यंत गहन है जो हमें प्राप्त करना चाहिये।

**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।**

**वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥**

‘लेकिन वह ज्ञान जो सभी जीवों में अलग-अलग प्रकार की एक दूसरे से पृथक् सत्ताएँ देखता है, उस ज्ञान को राजसिक जानो’।

उस ज्ञान को राजसिक ज्ञान कहा जाता है। वह क्या है? पृथक्त्वेन तु यत् ज्ञानं, ‘वह ज्ञान जिसमें प्रत्येक वस्तु पृथक् या अलग-अलग है’; नाभावेन, ‘यहाँ पर बहुत सी विभिन्न वस्तुएँ हैं’; पृथग्विधान्, ‘वे सब एक दूसरे से अलग हैं’; पृथक् का अर्थ है ‘अलग’; वेत्ति, वह स्त्री या पुरुष ‘इस प्रकार समझता है’; सर्वेषु भूतेषु, ‘जगत् की सभी वस्तुओं में’; तत् ज्ञानं विद्धि राजसम्, ‘उस ज्ञान को राजसिक जानो’।

यह मानव समाज के लिये घातक है। यह राजसिक ज्ञान कम से कम कुछ लोगों के द्वारा पीछे छोड़ दिया जाना चाहिये जो अन्य लोगों के लिये मार्गदर्शक होंगे।

**यत्तु कृत्स्नवत् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम् ।**

**अतत्त्वार्थवत् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम् ॥**

‘जब कि वह ज्ञान जो एक ही प्रभाव में सीमित है मानो वही सब कुछ है, जो बिना तर्क-युक्ति का, सत्य में प्रतिष्ठित हुए बिना, और तुच्छ है—वह तामसिक बताया गया है’।

उसे तामसिक ज्ञान माना गया है। वह क्या है? यत्तु कृत्स्नवत् एकस्मिन् कार्ये, वह ज्ञान जो ‘एक वस्तु तक सीमित है’; जो कार्य या परिणाम है, मानो वही सब कुछ है’; वह केवल परिणामों को देख सकता है; वह यह नहीं देख सकता है कि परिणामों के पीछे क्या है। सक्तं अहेतुकम्, ओर ‘बिना किसी तर्क-युक्ति या उस पर विचार किये उससे आसक्त है’; अतत्त्वार्थवद् अल्पं च, और ‘बिना सत्य में प्रतिष्ठित हुए, तथा लघु मात्रा में’; उस प्रकार का अल्प ज्ञान, जिसका वस्तु से कदापि सम्बन्ध नहीं है, और जो सत्य में प्रतिष्ठित नहीं है, तामसिक ज्ञान कहलाता है। वह अल्पं या ‘तुच्छ’ ज्ञान है।

केवल एक अभिव्यक्त वस्तु जगत् की सभी वस्तुओं में विद्यमान है; हम उसे ईश्वर, ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। जो भी भाषा प्रयुक्त की जाए, वह इन सभी सत्त्यों के पीछे का सत्य है। ये सब सत्य हैं, लेकिन वह सभी सत्त्यों का सत्य है। उपनिषद् इसे इसी प्रकार व्यक्त करता है : एतत् सत्यं, तत् सत्यस्य सत्यं, ‘यह सत्य है, लेकिन वह सत्त्यों का सत्य है’। यह जगत् सत्य है; लेकिन परम तत्त्व इन सब सत्त्यों का सत्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् इसी भाषा का प्रयोग करता है; सत्यस्य सत्यं—यह एक गहन विचार है। आप यह नहीं कहते कि शेष सब असत्य है। ये सभी सत्य हैं। लेकिन यदि आप उनमें से होकर जाएँ तो उन सब में यह एक सत्य विद्यमान है। यही सभी सत्त्यों

का सत्य है। अतः ब्रह्म जगत् के सत्यों के सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह जगत् सत्य है। वे ऊर्जाएँ जो भौतिक जगत् में कार्य कर रही हैं, सत्य हैं। उपनिषदों ने कहा, प्राणाः वै सत्यं, तेषां एष सत्यं, 'जगत् में काम करने वाली सभी ऊर्जाएँ या प्राण सत्य हैं। लेकिन यह आत्मा उस सत्य का सत्य है'। इसलिये, सत्यस्य सत्यं, वेदान्त की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। स्वामी विवेकानन्द ने 1893 की शिकागो धर्म संसद के समक्ष अपने व्याख्यान में कहा था: 'हिन्दू धर्म के अनुसार मनुष्य असत्य से सत्य की ओर यात्रा नहीं करता, अपितु, 'सत्य से सत्य की ओर' निम्न सत्य से उच्चतर सत्य की ओर यह सत्य है, एक निम्नतर सत्य। लेकिन मैं जानना चाहता हूँ कि इस सत्य का सत्य क्या है। तब आप सत्यस्य सत्यं पर, उच्चतम सत्य पर आते हैं। यह सात्त्विक ज्ञान है।

वह ज्ञान जो एक परिणाम पर सीमित है, मानो यही समग्र है, बिना किसी तर्क-युक्ति पर आधारित हुए, बिना सत्य में प्रतिष्ठित हुए, और अत्यंत तुच्छ है, वह तामसिक ज्ञान है। आदिवासी, जिनका मानसिक प्रशिक्षण नहीं हुआ, सदा यही समझते हैं कि वस्तुएँ पृथक् हैं। बच्चों का भी यही विचार होता है। लेकिन धीरे-धीरे हम राजसिक श्रेणी की ओर विकसित होते हैं, और कुछ लोग सात्त्विक श्रेणी पर भी पहुँचते हैं। जब तक बालक महाविद्यालय का विद्यार्थी बनता है, उस युवक या युवती में सात्त्विक ज्ञान को विकसित करने की क्षमता आ जानी चाहिये। तब मानव समाज के लिये आशा है। किसी भी समाज में सात्त्विक श्रेणी का महत्त्व इस बात में है कि आप उस समाज में पूरा समन्वय पाएँगे।

धर्म के जगत् को लीजिये। तामसिक भाव के अनुसार जीवन के अन्य पहलुओं के अतिरिक्त धर्म में भी प्रत्येक वस्तु पृथक् है, और यह दृष्टिकोण कि मेरा धर्म प्रत्येक अन्य के धर्म से उच्चतर है, प्रचलन में है। इस प्रकार के धार्मिक सिद्धान्तवादी बिना किसी तर्क अथवा युक्ति के केवल इस बात पर बल देते हैं कि 'मेरा ईश्वर सर्वोच्च है। मेरा धर्म सर्वोच्च है'। तब हमें कोई उत्तर नहीं मिलता। इस प्रकार का बल दिया जाना तामसिक श्रेणी के धर्म का द्योतक है। फिर राजसिक समझ आती है, और सात्त्विक समझ है—एक ही सत्य इन सब धर्मों में देदीप्यमान है। 'सत्य एक है'; भारत के प्राचीन ऋग्वेद ने यही कहा था : एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति, 'सत्य एक है, ऋषिगण इसे विविध नामों से पुकारते हैं'। सत्य अपने आप में एक ही है। कोई ईसाई सत्य, या हिन्दू सत्य अथवा मुस्लिम सत्य नहीं है। सत्य में ऐसा कोई अन्तर नहीं है; सत्य एक है। हम इसके बारे में विभिन्न प्रकार से बोलते हैं। यह धर्म की सात्त्विक समझ है। भारत ने यह सात्त्विक ज्ञान बहुत पहले प्राप्त कर लिया था और इसे युगों तक संजोये रखा। और इसीलिये हमारे यहाँ संसार के अन्य देशों की तुलना में उस सात्त्विक ज्ञान के कारण वह समन्वय पाया जाता है। जो हमारे महान् गुरुओं ने ऋग्वेद के काल से लेकर हमारे स्वयं के श्रीरामकृष्ण तक प्रचारित किया और जिन्होंने कहा था, यतो मत, ततो पथ, 'जितने धर्म हैं, उतने ही ईश्वर तक पहुँचने के मार्ग हैं'। भारत ने अनेकता में एकता का विकास किया। यह समन्वय शब्द महत्त्वपूर्ण है। अपने मौर्य साम्राज्य के स्तंभ व

शिला लेखों में तीसरी शताब्दी ई०पू० में सम्राट अशोक ने खुदवाया था 'समन्वय ही सत्य है'। तनिक कल्पना कीजिये यह संदेश ईसा पूर्व की तीसरी सदी में घोषित किया गया: 'केवल समन्वय ही सत्य है, न कि विरोध' सत्य है, और इसलिये 'केवल समन्वय ही सत्य है'; समवाय एव साधु; यह संस्कृत की अभिव्यक्ति है। इसलिये यह सात्त्विक ज्ञान विभिन्न धर्मों के समन्वय के लिये आवश्यक है।

इसी प्रकार, यह विभिन्न भाषाओं और नस्लों में भी समन्वय स्थापित करता है। एक समाज में मिश्रित प्रकार के लोग रह रहे हैं। वह क्या है जो उन्हें इकट्ठा रखता है? यह सात्त्विक ज्ञान। सभी विविधतापूर्ण समाजों में हमें इस सात्त्विक ज्ञान को विकसित करने की आवश्यकता है जिससे कि सामाजिक शान्ति तथा समन्वय के लिये एक मनुष्य तथा दूसरे के बीच सामन्जस्य स्थापित किया जा सके, हमारे दर्शन में यह संदेश है। और बहुत से लोगों ने इस प्रकार का सात्त्विक ज्ञान प्राप्त किया है। भारत का यह प्रयोग विगत 5000 वर्षों का है। आज हम बहुत से बाहरी प्रभावों के कारण इसके अनुसार नहीं हो पा रहे हैं। लेकिन हम आशा करते हैं कि इस सात्त्विक ज्ञान को बलशाली बना कर हम इस स्थिति से ऊपर उठ जायेंगे चाहे भाषा में, संस्कृति में, सामाजिक नियम और व्यवस्थाओं तथा धार्मिक रीतियों में कितने ही प्रकार की विविधताएँ हों। हम इन बातों से व्यथित नहीं हैं क्योंकि हम अनेक में एक देख सकते हैं। इसीलिये भारत का सांस्कृतिक और राजनीतिक विचार है: विविधता में एकता। इन्डोनेशिया का भी यही आदर्श है। इन्डोनेशियाई भाषा में वे इसे सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते हैं: भिन्नेका एक्का तुंगल। अतः यह सात्त्विक आदर्श है। प्रत्येक विविधतापूर्ण समाज के लिये हमें इस दृष्टिकोण की आवश्यकता है। प्रत्येक समाज में सदैव विविधतापूर्ण दृष्टिकोण होंगे। केवल एक सामान्य दृष्टिकोण नहीं चल सकता। यदि इस्लाम प्रारंभ में एकतापूर्ण धर्म के रूप में आया तो कुछ समय बाद यह शिया और सुन्नी में बँट गया। तब उन्हें सात्त्विक ज्ञान की आवश्यकता पड़ी; अन्यथा, उनके बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहेगा, जैसा हम पाकिस्तान जैसे इस्लामिक देश में देखते हैं। भारत में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकतम विविधताएँ हैं। अन्य सभी देशों को इस सात्त्विक ज्ञान की बहुत आवश्यकता है।

आज यूरोप एकीकृत हो रहा है। केवल पश्चिमी यूरोप ही एकीकृत नहीं हो रहा अपितु पूर्वी यूरोप भी दृश्य में आ रहा है। यह ज्ञान उस समाज को एकीकृत, स्वस्थ और शान्तिपूर्ण बनाने के लिये आवश्यक है। यह सात्त्विक ज्ञान अधिक से अधिक लोगों में आना चाहिये। आप एक चेक हैं, आप एक साइबेरियन हैं, एक क्रोएशियन, जर्मन, एक फ्रेंच या ब्रिटिश—इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; आप सब मनुष्य हैं। स्त्री व पुरुषों में एकता है, यद्यपि शारीरिक रूप से, तथा भाषाओं में अन्तर है, लेकिन आध्यात्मिक रूप से पूर्ण एकता है। वही आध्यात्मिक वास्तविकता हम सब में है। इसलिये हमें एक दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रहना चाहिये। यह विश्वास स्थापित होगा, और केवल तभी हमारे पास पूर्णतः समन्वित समाज या राजनीतिक राज्य होगा।

\*\*\*\*\*

Vol. : 6, No. : 11, Jan-June, 2011

ISSN 0976-3694

# MŪLYAVIMARŚA

A Bi-Annual Research Journal on  
Ethics & Human Values



Chief Editor  
**Kamal Sheel**

Executive Editor  
**Usha Tripathi**

Editors  
**Dharm Jung**  
**Rajeev Kumar Verma**

# मूल्यविमर्श

वर्ष-6, अंक-11, जनवरी-जून, 2011

ISSN 0976-3694

## सम्पादन परामर्श समिति

रामहर्ष सिंह (प्रोफेसर एमेरिटस, का0हि0वि0वि0 व पूर्व कुलपति, राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर)

रमेश चन्द्र पण्डा (प्रोफेसर व डीन, संस्कृत धर्म विज्ञान संकाय, का0हि0वि0वि0)

धीरेन्द्र प्रसाद वर्मा (प्रोफेसर व डीन, विधि संकाय, का0हि0वि0वि0)

अनिल कुमार अग्रवाल (प्रोफेसर, प्रबंध संकाय, का0हि0वि0वि0)

सुशांत कुमार श्रीवास्तव (प्रोफेसर, प्रौद्योगिकी संस्थान, का0हि0वि0वि0)

संजय कुमार (एसोसिएट प्रोफेसर, कला संकाय, का0हि0वि0वि0)

## प्रकाशक

### मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र

**Malaviya Centre for Ethics & Human Values**

श्यामाचरण डे निवास, मालवीय भवन संकुल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

## मुद्रक

काबरा आफसेट

बी.-6, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

## अक्षर संयोजन

ऋतुराज जायसवाल

## आर्थिक सहयोग

श्री विश्वनाथ मंदिर, का0हि0वि0वि0

सहयोग राशि	:	₹ 50 /-
वार्षिक सदस्यता	:	₹ 100 /-
द्विवार्षिक सदस्यता	:	₹ 150 /-
पंचवार्षिक सदस्यता	:	₹ 400 /-
आजीवन सदस्यता	:	₹ 5000 /-

# MŪLYAVIMARŚA

Vol. : 6, No. : 11, Jan-June, 2011

ISSN 0976-3694

Editorial Advisory Board

**Ramharsh Singh** (Professor Emeritus, BHU & Ex. Vice Chancellor, Rajasthan Ayurved University)

**Ramesh Chand Panda** (Professor & Dean, SVDV, BHU )

**Dhirendra Prasad Verma** (Professor & Dean, Faculty of Law, BHU)

**Anil Kumar Agrawal** (Professor, Faculty of Management, BHU)

**Sushant Kumar Srivastava** (Professor, Institute of Technology, BHU)

**Sanjay Kumar** (Associate Professor, Faculty of Art, BHU)

Publisher

**Mālaviya Mūlya Anuśilan Kendra**

**(Malaviya Centre for Ethics & Human Values)**

Shyamacharan De Niwas, Malaviya Bhawan Complex

Banaras Hindu University, Varanasi-221005

Printed By

**Kabra offset**

**B6, Ravindrapuri, Varanasi**

Type Setting

**Rituraj Jaiswal**

Financial Support

**Shri Viswanath Mandir, BHU**

<b>Contribution Price</b>	:	<b>₹ 50/-</b>
Annual Membership	:	₹ 100/-
Two Years Membership	:	₹ 150/-
Five Years Membership	:	₹ 400/-
Life Membership	:	₹ 5000/-

### अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	महामना का जीवन दर्शन <i>सुमन जैन</i>	1-4
2.	मूल्यपरक राष्ट्रीय शिक्षा : एनी बेसेन्ट के विचारों की प्रासंगिकता <i>आशिता</i>	5-9
3.	मानवीय मूल्यों की शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिन्तन की उपादेयता <i>दिनेश कुमार सिंह</i>	10-15
4.	भारत की समस्याएँ : स्वामी विवेकानन्द का विश्लेषण <i>संध्या त्रिपाठी</i>	16-21
5.	मूल्य : एक अवधारणात्मक अनुशीलन <i>शशिशेखर</i>	22-27
6.	अनुप्रयोगात्मक मूल्य <i>प्रताप निर्भय सिंह</i>	28-31
7.	शैक्षिक जागरूकता : समाजशास्त्रीय परिदृश्य <i>विजय आनन्द</i>	32-34
8.	नैतिकता : विविध आयाम <i>प्रीति सिंह</i>	35-37
9.	मानवीय मूल्यों में प्रकृति की अर्थवत्ता <i>कुमार वरुण, नित्यानन्द सिंह</i>	38-42
10.	धर्म, धर्मनिरपेक्षता और संविधान <i>नवलकिशोर मिश्रा</i>	43-5
11.	धर्म, जीवन सम्पूर्णता की एक विधि <i>विनय कुमार सिंह यादव</i>	51-53
12.	सत्याग्रह : एक जीवन मूल्य <i>प्रभात कुमार मिश्र</i>	54-60
13.	माध्यम, मूल्य, मीडिया और मानव का मूल्यांकन <i>श्यामलेन्दु रंजन</i>	61-64
14.	जीवन मूल्य और हमारा दायित्व <i>धर्मजंग एवं राजीव कुमार वर्मा</i>	65-68
15.	प्राथमिक विद्यालयों में मूल्यपरक शिक्षा की प्रासंगिकता <i>राजेश कुमार</i>	69-72

16.	आधुनिक प्रौद्योगिकी शिक्षा और मानवीय मूल्य <i>अमित कुमार वर्मा</i>	73—76
17.	भारतीय चिकित्सा पद्धति में वर्णित सामाजिक मूल्य एवं उनका महत्व <i>रश्मि वाष्णीय</i>	77—79
18.	अपभ्रंश साहित्य में जीवन मूल्य <i>वृजराज सिंह</i>	80—84
19.	मानवीय मूल्य और सन्त साहित्य <i>राजेश कुमार चौधरी</i>	85—90
20.	भक्ति की अवधारणा : वल्लभाचार्य के विशेष सन्दर्भ में <i>नवीन कुमार श्रीवास्तव</i>	91—98
21.	साम्प्रदायिक सद्भाव के क्रान्तिदूत 'सन्तकबीर' <i>भागीरथी</i>	99—101
22.	प्रसाद का आनंद संदेश एवं मूल्यदृष्टि <i>अनूपा कुमारी</i>	102—105
23.	मूल्य संकट का समकालीन परिदृश्य और हिन्दी नाटक <i>वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी</i>	106—110
24.	मूल्य संक्रमण के दौर में शरद जोशी का व्यंग्य <i>अमित कुमार सिंह</i>	111—115
25.	वैदिक जीवन दर्शन में प्रतिबिम्बित मानवीय मूल्य <i>विजय श्रीवास्तव</i>	116—121
26.	भारतीय संस्कृति एवं साहित्य <i>ऋतु वाष्णीय</i>	122—124
27.	मूल्य—सापेक्ष प्रशासन एवं कौटिल्य का अर्थशास्त्र की उपादेयता <i>ज्योति मिश्रा</i>	125—130
28.	मानवमूल्य विमर्श एवं समकालीन भारतीय आध्यात्मिक मानववाद <i>मलय कुमार झा</i>	131—136
29.	भारतीय मूल्य परम्परा : एक दर्शनपरक अध्ययन <i>नमिता कपूर</i>	137—140
30.	सात्त्विक, राजसिक और तामसिक ज्ञान <i>स्वामी रंगनाथानंद</i>	141—145



## सम्पादकीय

षट्मासिक पत्रिका 'मूल्यविमर्श' का वर्ष 2010-11 का यह शीतकालीन अंक पाठकों के सामने है। इस पत्रिका के माध्यम से 'मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र' अपने आदर्शों एवं उद्देश्यों का प्रचार-प्रसार करने का प्रयास करता आ रहा है। यह वर्ष भारत की महान विभूति महामना पं० मदन मोहन मालवीय की 150वीं जन्म जयन्ती का वर्ष है। कृतज्ञ राष्ट्र इस जयन्ती को पुनीत श्रद्धा के साथ मनाने जा रहा है। महामना की महान कृति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से जुड़े रहकर हम एक विशेष प्रकार के गर्व का अनुभव करते हैं एवं असंख्य देशवासियों एवं प्रशंसकों के साथ इस असाधारण विभूति को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

महामना एक बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। पिछली दो सदियों में भारत वर्ष में जिन असाधारण व्यक्तियों को जन्म दिया उनमें पं० मदन मोहन मालवीय का स्थान अग्रणी श्रेणी में आता है। अपने मानवीय गुणों एवं सार्थक सेवाओं के कारण ही वे 'महामना' कहलायें। सामाजिक जीवन का कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता नहीं रहा। जिन-जिन क्षेत्रों में उन्होंने कार्य किया, चाहे वह वकालत हो, या धर्म विषयक सेवा हो, या फिर विस्तृत राजनीति, सभी क्षेत्रों को अपनी उपस्थिति से उन्होंने आदरणीय बनाया। यही कारण है कि महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष ने भी स्वीकारा कि "मैं तो मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ।" यह जानकर आश्चर्य भले ही लगे, पर पढ़े-लिखे चिन्तावान लोगों में भी महामना के प्रशंसकों की कमी नहीं थी।

उनके व्यक्तित्व के दो पहलू विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं – एक व्यक्ति के रूप में उनकी महानता एवं दूसरा सार्वजनिक कार्यों में उनकी श्रेष्ठता। ऐसे अनेक व्यक्ति देखने को मिलेंगे, जिन्होंने अपने भीतर के मानवोचित गुणों को विकसित करने का भरसक प्रयास किया हो, पर जिस प्रकार के उदात्त चारित्रिक गुणों का विकास मालवीय जी के जीवन में देखने को मिलता है। वह लोगों के लिए उदाहरण बन जाता है एवं लोग जीवन भर उनसे प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं। उनका सुसंस्कृत संकल्प एवं उससे पूर्णता तक लाने की दृढ़ इच्छाशक्ति अवश्य ही विरल व्यक्तित्व में ही देखी जा सकती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का उनका संकल्प समकालीन प्रबुद्धजनों को भी प्रारम्भ में केवल काल्पनिक ही लगता था। पर महामना ने न केवल इसे वास्तविक रूप दिया, इसे ऊँचाइयों तक पहुँचाने की एक समुचित नींव भी उन्होंने प्रदान की। अपने किसी स्वप्न को साकार होते देखना साथियों-सहयोगियों के साथ मिलकर उसे गढ़कर संवर्धित करना विरले लोगों का भाग्य बनता है। जन-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हुए शिक्षा क्षेत्र को अपनी सेवाओं का विषय बनाना शायद महामना की सर्वोच्च देन है। उनकी इस अनूठी देन को 'मूल्यविमर्श' का यह अंक सादर समर्पित है।

—उषा त्रिपाठी